दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० 2499 तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष 28 अंक नं० 12

महावीर के मार्ग पर....

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

भगवान महावीर के बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण करना ही उनका जन्मोत्सव मनाने की सबसे अच्छी रीति है।

वीर प्रभु जैसे परम वीतरागी संतों का स्मरण करके विचार करना चाहिये कि—उन्होंने किसप्रकार आत्मसाधना की और हमें कौन-सा मार्ग बतलाया है ?....

भगवान महावीर ने सांसारिक सुख-सुविधाओं को तिलांजलि देकर शाश्वत सुख की प्राप्ति का मार्ग ग्रहण किया और ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को ध्येय बनाकर, अभेद रत्नत्रय की आराधना द्वारा मोक्ष-सुख प्राप्त किया। समस्त संसारी जीवों को भी उन्होंने मोक्षमार्ग का ही उपदेश दिया है। हम उनको उपदेश ग्रहण करके उनके दर्शाय हुए मार्ग पर चलें...

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

अप्रैल : 1973] वार्षिक मूल्य 4) रुपये (336) एक अंक 35 पैसा [चैत्र : 2499

भगवान महावीर

[सम्पादकीय]

हम सब महावीर की संतान! महावीर के उत्तराधिकारी! कितने महान गौरव की बात है! उन प्रभु को मोक्ष पधारे ढाई हजार वर्ष पूरे हुए... तथापि आज भी भगवान महावीर अपने उपदेश द्वारा मानों हमारे समक्ष विद्यमान हों—ऐसा उनका शासन वर्त रहा है। अहा, हमने वीतरागी वीर प्रभु के शासन में जन्म लिया... हम भगवान के मार्ग पर चलनेवाले रत्नत्रयधारी संतों के पादविहारी बने, उनके अनुयायी बने, उनकी शिष्यपरंपरा में सम्मिलित हुए।

वीतरागी भगवान जैसे महान हैं, उनका शिष्य होनेवाले की जिम्मेदारी भी उतनी ही महान है। वीतराग का शिष्य राग का आदर कैसे कर सकता है? राग से पार होकर आत्मा में चैतन्यभाव प्रगट करना, वह अपूर्व वीरता है और वही वीर का मार्ग है। भगवान महावीर के ऐसे मार्ग की उपासना करने की रीति पूज्य श्री कानजीस्वामी हमें सिखला रहे हैं। उस मार्ग की उपासना द्वारा ही भगवान की सच्ची पहिचान होती है।

भगवान महावीर के हम सब अनुयायी इस ध्येय को लक्ष में रखें और ध्येय की सिद्धि में परस्पर सहयोग मिले, ऐसा वातावरण पैदा करें। सब झंझटों को छोड़कर, छोटे से छोटे झगड़े को भी एक ओर रखकर वीतराग मार्ग का प्रचार करें और उसी की उपासना में आत्मा की सर्व शक्ति लगाकर जैन शासन को उज्ज्वल बनायें। यही भगवान महावीर का सच्चा जन्मोत्सव है क्योंकि भगवान ने अपने जीवन में ऐसा किया था... आज भगवान महावीर का जन्मोत्सव मनाते हुए उन पवित्रात्मा की वीतरागी वीरता का स्मरण करके दृढ़ संकल्प करें कि हम कायर नहीं बनेंगे परंतु वीर की संतान को शोभा दे, ऐसी वीतरागी वीरता के उद्यमपूर्वक आत्मा की साधना करेंगे... वीरप्रभु के मार्ग पर चलेंगे और सादि अनंत सिद्धालय में उनके साथ रहेंगे। 'जय महावीर!'

—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

संपादक : ब्र० हरिलाल जैन 卐 सह-संपादक : ब्र० गुलाबचंद जैन

अप्रैल : 1973 ☆ चैत्र : वीर नि० सं० 2499, वर्ष 28 वाँ ☆ अंक : 12

सुख का सरोवर आत्मा

❋ जिसप्रकार जल से भरे हुए सरोवर को छोड़कर हिरन मरीचिका के पीछे दौड़-दौड़कर हाँफ जाये, तथापि उसे पानी नहीं मिलता—कहाँ से मिले ? वहाँ पानी है ही कहाँ ? उसीप्रकार अनंत शक्ति के जल से भरपूर निर्मल चैतन्यसरोवर—जो स्वयं है, उसे भूलकर जीव मरीचिका जैसे राग में दौड़ता है और दुःखी होता है; सुख की बूँद भी उसे नहीं मिलती... कहाँ से मिले ? राग में सुख है ही कहाँ ?... भाई, सुख का सरोवर तो मुझमें छलाछल भरा है, उसमें देख तो अपने आत्म-सरोवर में तुझे सुख का अमृत मिलेगा और तेरी तृषा शांत हो जायेगी।

❋ आत्मा और रागादिभाव—दोनों के स्वाद में बड़ा अंतर है; परंतु दोनों के स्वाद का पृथक् अनुभव करनेरूप अज्ञानी की भेद-संवेदन शक्ति ढँक गई है और ज्ञानी की शुद्धचेतना द्वारा वह भेद-संवेदन शक्ति खिल गई है... राग से भिन्न आत्मा की प्रतीति होने से चैतन्य का भंडार खुल गया।

पूज्य स्वामीजी द्वारा दिया गया वीरप्रभु का संदेश

ढाई हजार वर्ष पूर्व वीर-वर्द्धमान भगवान जहाँ साक्षात् विचरे थे, ऐसी पावनभूमि में वीरनाथ का मंगल संदेश सुनाते हुए स्वामीजी ने कहा कि—यह आत्मा अपने ज्ञान-आनंदस्वभाव के साथ एकत्वरूप है और रागादि विभावों से विभक्त है, ऐसा एकत्व-विभक्त आत्मा मंगलरूप है और उसकी बात सुनना, वह भी मंगलरूप है। एकत्व-आनंदस्वरूप ज्ञायक आत्मा है, वह सुंदर है, वह मंगल है; उसकी श्रद्धा करना, वह मंगल है और प्रेमपूर्वक उसका श्रवण करना, वह भी मंगल है।

संसार में जय-पराजय, मान-अपमान जैसे प्रसंगों पर भी जो शांति रह सकती है, वह वाणी द्वारा वर्णन न हो सके तो फिर अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा लक्ष में लेकर अनुभव करने पर जो शांति होगी उसकी तो बात ही क्या!

जिसे सच्ची आत्मशांति की अभिलाषा हो उस मुमुक्षु को अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा अपने अंतर की वस्तु में प्रवेश करना है। जो जीव स्ववस्तु में पहुँचा, वही विजेता हुआ। जगत में श्रेष्ठ ऐसा सच्चा निजपद उसने प्राप्त कर लिया है। ऐसे निजपद का स्वरूप पूज्य-स्वामीजी ने यहाँ बताया है।

सम्यग्दर्शन क्या है, उसका वर्णन स्वामीजी बतलाते हैं। अनंतकालीन संसार-प्रवाह में जीव को मनुष्यपना भी अनंतबार प्राप्त हुआ है, परंतु देह से भिन्न, राग से पार अपना जो सत्य ज्ञानस्वरूप है, उसकी पहिचान जीव ने कभी नहीं की, इससे उसका संसारभ्रमण नहीं मिटा। अज्ञान को टालकर आत्मा की पहिचान कैसे हो, उसकी यह बात है।

अहा, यह आत्मा तो भगवान है, परमात्मा का होना उसका स्वभाव है। जो रागादिभाव हैं, वे तो दुःखरूप, क्षणिक, अशुद्ध एवं चेतनारहित हैं; चेतनस्वभावी भगवान आत्मा उनसे

अत्यंत भिन्न, सुखरूप, सदा सर्वज्ञस्वभावी पवित्र है।

आत्मा अतीन्द्रिय सुख से भरपूर है; उसके सन्मुख होने से रागादिरहित ज्ञानस्वभावरूप से आत्मा अनुभव में आता है। ऐसे आत्मा का अनुभव, वह शुद्ध का अनुभव है और वह भूतार्थ है; रागादिभाव उसमें अभूतार्थ हैं। शुद्धनय के अनुभव में रागादि हैं ही नहीं; गुण-पर्याय के भेद भी उस अनुभव में नहीं हैं। भेद के विकल्परहित एकाकार ज्ञायकवस्तु का अभेद अनुभव, सो सम्यग्दर्शन है और उसके साथ चैतन्य का अतीन्द्रिय आनंद है। उस अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद के निकट तो सारी दुनिया नीरस जैसी लगती है। ऐसे चैतन्य की अनुभूति में भेद दिखायी नहीं देते, इसलिये उन्हें अभूतार्थ कहा है। आत्मा में गुण-पर्याय हैं ही नहीं—ऐसा 'अभाव' मानकर अभूतार्थ नहीं कहा; गुण-पर्यायें तो विद्यमान हैं; परंतु शुद्ध ज्ञायकभावयप एक अभेद तत्त्व के अनुभव में उन गुण पर्यायों के भेद दिखायी नहीं देते, इसलिये उन्हें 'गौण' करके अभूतार्थ कहा है। ऐसे आत्मा को जानना, सो सम्यग्दर्शन है। अरे, अपने ऐसे गंभीर चैतन्यतत्त्व का पहले लक्ष तो केन्द्रित करो। सत् का सच्चा लक्ष करके उसे अनुभव में लेने से सम्यग्दर्शन होता है और अतीन्द्रिय आनंदरूप से आत्मा का स्वाद आता है। यह अत्यंत मधुर चैतन्यरस, जगत के सर्व रसों से विलक्षण है। उसका स्वाद जीव ने सम्यग्दर्शन से पूर्व कभी नहीं लिया था, वह सम्यग्दर्शन में आया, वहाँ जगत के सर्व रस उसे रुखे-नीरस मालूम होने लगे।

अरे जीव! तेरा सच्चा स्वरूप क्या है, उसे तू विचार की धारा में तो ले! भाई, अनेक जीव छोटी-छोटी उम्र में आयु पूर्ण करके चले जाते हैं.... ऐसा मनुष्य अवतार और सत्संग के अवसर में भी आत्महित के लिये करनेयोग्य कार्य यदि नहीं किया तो फिर कब करेगा? अरे, भव के दु:ख की जलन होना चाहिये कि—ऐसे भवदु:ख अब इस आत्मा को न हों! आत्मा के आनंद का स्वाद जिसमें न आये, वह मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा समझकर उसका रस छोड़, और रागादि रहित जो अंतर का चैतन्यतत्त्व है, उसे लक्ष में-अनुभव में ले, तो तेरे भवदु:ख का अंत आ जायेगा और तुझे चैतन्यसुख का अपूर्व स्वाद आयेगा। ऐसे सुख का जिसमें अनुभव हो, वही भगवान महावीर का मार्ग है।

चैतन्य के सन्मुख होकर उसका अनुभव करने से राग बाहर रह गया और ज्ञान-परिणति अंतर में अभेद हो गई; इसलिये वहाँ रागादिभाव या भेद के विकल्पोंरूप व्यवहार नहीं

रहा। इसप्रकार शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से समस्त व्यवहार अभूतार्थ है। ऐसा तेरा आत्मतत्त्व विद्यमान है—वह सर्वज्ञ परमात्मा ने बतलाया है। वर्द्धमान भगवान ढाई हजार वर्ष पहले भरतक्षेत्र में दिव्यध्वनि से ऐसा आत्मा प्रकाशित कर रहे थे और वर्तमान में भी मनुष्य-क्षेत्र में विदेह में श्री सीमंधर परमात्मा आदि साक्षात् तीर्थंकर भगवंत दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा ही आत्मा प्रकाशित कर रहे हैं तथा धर्मी जीव वैसे आत्मा का अपने में अनुभव कर रहे हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने वहाँ जाकर सीमंधर परमात्मा की वाणी सुनी थी; स्वयं शुद्धात्मा का साक्षात् अनुभव करके अपूर्व आनंदरूप निजवैभव प्रगट किया था; और वही शुद्धात्मा उन्होंने इस समयसार में बतलाकर भरतक्षेत्र के जीवों पर महान उपकार किया है।

आत्मा के शुद्धस्वभाव को अनुभव में लेनेवाला शुद्धनय भूतार्थ है; उसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। शुद्धनय द्वारा अपने शुद्धस्वभाव को जब तक जीव न जाने और व्यवहार में मग्न रहे अर्थात् पर्यायभेद-राग-विकल्प में मग्न रहे, तबतक सच्चा आत्मा उसके ज्ञान में या श्रद्धा में नहीं आता अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जीव ने अनादि से शुद्धवस्तु को कभी नहीं जाना। शुद्धनय द्वारा शुद्धवस्तु को जाने—अनुभवे, तभी जीव का कल्याण होता है। इसलिये श्रीगुरु ने जीवों के हित के लिये शुद्धनय के ग्रहण का उपदेश दिया है और व्यवहार का अवलंबन छुड़ाया है।—ऐसा करने से अंतर में अतीन्द्रिय आनंद का वेदन होता है।—यही धर्म का चिह्न है। अंतर में अतीन्द्रिय-आनंद का स्वाद आये बिना धर्म नहीं होता।

राग का, भेद के विकल्प का अनुभव जीव को अनादि से है, अज्ञान के कारण उसी को वह आत्मा मान रहा है। भाई! तेरा भगवान, तेरा आत्मा राग जितना नहीं है, विकल्प में प्राप्त हो जाये, ऐसा तेरा आत्मा नहीं है। आत्मा तो अनंत महिमा का भंडार है; उसे स्वसंवेदन में लेने से शुद्धनय प्रगट होता है और सर्व विकल्पों से आत्मा पृथक् हो जाता है।—अनंतगुणों से एकरूप, एकरसरूप आत्मा अनुभव में आता है, उसमें अतीन्द्रिय आनंद है, वही सम्यग्दर्शन और जैनधर्म का प्राण है—ऐसा वीरप्रभु का संदेश है।●

अपूर्व आनंद का मार्ग

[नियमसार, गाथा 4 के प्रवचन से, माघ सुद 14]

❋ आत्मा को परिपूर्ण आनंद की प्राप्ति होना, वह मोक्ष है।

❋ आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप ही है—उसमें अंतर्मुख होकर पर्याय में वह आनंदरूप परिणमित होना अर्थात् आनंद का साक्षात् वेदन होना, वह परिपूर्ण आनंद का लाभ है, वह साक्षात् मोक्ष है।

❋ ऐसे महान आनंद की साक्षात् प्राप्ति का उपाय तो शुद्ध रत्नत्रयपरिणति है, वह अतीन्द्रिय आनंदरूप है।

❋ वस्तु में जो शक्ति है, वह परिणति में जब प्रगट हो, तब वह कार्यरूप होता है। आनंद आत्मा की शक्ति में है परंतु पर्याय में कार्यरूप प्रगट हो, तब वह अनुभव में आता है। कारणरूप शक्ति तो सभी जीवों में त्रिकाल है, पर्याय जब अंतर्मुख होकर उसको प्रगट अनुभव में ले, तब महान आनंदरूप मोक्ष का उपाय प्रगट होता है—वह मुमुक्षु का कार्य है।

❋ अहा, मोक्ष तथा उसका मार्ग दोनों अतीन्द्रिय आनंदरूप है। आनंद का वेदन करते-करते मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसमें कष्ट नहीं, दु:ख नहीं।

❋ मोक्ष को प्राप्त हुए भगवंतों ने भव्य जीवों को ऐसा कहा है कि शुद्धरत्नत्रयरूप परिणमित आत्मा, वही स्वयं अभेदरूप मोक्षमार्ग है। उससे भिन्न कोई सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं। जिसने अंतर्मुख होकर सुंदर मार्ग को प्राप्त किया, वह जीव अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करता है, और पुन: माता के उदर में अवतरित नहीं होता।

❋ अहा, सम्यग्दर्शन में चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद का एक अंश अनुभव में आया, उस आनंद के समक्ष तीन लोक का इंद्रियवैभव सर्वथा नि:सार लगता है, चैतन्यसुख के

करण के समक्ष इंद्रपद की विभूति का भी कुछ मूल्य नहीं है, फिर मुनिदशा में वीतरागी चारित्र के महान आनंद की क्या बता? ऐसे आनंदमय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणति, वह मोक्षरूप महा आनंद का उपाय है। आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव आनंदमय है, वह स्वयं आनंदरूप प्रगट होता है।

* शुद्ध रत्नत्रय परिणमित हुआ आत्मा, वह वास्तविक अभेद मोक्षमार्ग है; उसमें रागादि की अपेक्षा नहीं है; इसलिये वह निरूपचार अभेद-रत्नत्रय है। अहो! वीतरागी मार्ग में ऐसे आनंदमयी रत्न विद्यमान हैं; अंदर अतीन्द्रिय आनंद का सागर भरा है—उसमें दृष्टि देते ही सम्यग्दर्शनादि रत्न प्राप्त होते हैं, बीच में रागादि व्यवहार आये, वह कुछ आनंदरूप नहीं और परिपूर्ण आनंद का उपाय नहीं। शुद्ध आत्मा के आश्रय से जो रागरहित अभेद रत्नत्रय प्रगट होता है, वही आनंदरूप है।

* श्री जिनभगवान ने ऐसे उपाय से मोक्ष प्राप्त किया, और ऐसा ही उपाय जगत को बताया; उस मार्ग को जो जानता है, वह आसन्न भव्य है, वह जीव अल्पकाल में जन्म-मरण का नाश करके मोक्षसुख को प्राप्त करता है। अहा, ऐसे चैतन्यसाध्य की जिसने साधना की, उसे अब असाध्यपना कैसा! रोगादि के समय भी उसकी साधना वर्तती है, वह असाध्य नहीं होता, अपने चैतन्यसाध्यरूप ध्येय के प्रति वह जागृत है, एक समय भी उसे साध्य का विस्मरण नहीं होता; साध्य की साधना करने से महा आनंद को प्राप्त होता है। स्वसन्मुख होकर ऐसे आनंद की भावना करनेयोग्य है।

* अरे, ऐसे आनंद का अनुभव प्राप्त करने की किसे भावना न हो? आत्मा का परम आनंद, जिसमें अन्य किसी की अपेक्षा नहीं, ऐसा मार्ग बताकर संतों ने अपूर्व करुणा की है। अरे जीव! एक बार कौतूहल करके अंदर में देखने के लिये तो आओ। वीतरागी संत जिसकी इतनी-प्रशंसा करते हैं... परम महिमा गाते हैं... वह तत्त्व अंदर में कैसा है! उसका आश्चर्य से एकबार अवश्य अनुभव कर। उसका अनुभव करते ही ऐसा महा आनंद होगा कि—जिसमें संसार के दु:ख की गंध भी नहीं रहेगी। अरे, एक बार ऐसे चैतन्य के निर्विकल्परूप रस का पान करने के लिये अंदर में आ। जीवन का सच्चा सार तो इसी में है। अहा, तेरे स्वरूप को तो देख, आनंदमय तेरा अकृत्रिम स्वरूप महा सुंदर है। लोग अपना चेहरा अच्छा दिखाने के लिये बाहर से (पाउडर लगाते हैं)

उपाय करते हैं। लेकिन अपना चैतन्यस्वरूप कृत्रिमतारहित स्वाभाविक ही महा सुंदर है, राग के दाग से रहित है। उसी शोभा के लिए कोई उपाय नहीं करना पड़ता। ऐसा अनुपचार-अभेद रत्नत्रय परिणतिस्वरूप आत्मा, वही वास्तव में मोक्षमार्ग है। वीतरागमार्ग में भगवंतों ने ऐसे सुंदर मार्ग को बताया है। अहा, आत्मा प्रसन्न होकर रत्नत्रय से खिल उठे—ऐसा सुंदर मार्ग है।

❋ आनंदस्वरूप आत्मा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भी स्वसंवेदन-प्रत्यक्षरूप हुआ है, परोक्ष रहने का उसका स्वभाव नहीं। मात्र परोक्षज्ञान से आत्मा कभी जानने में नहीं आता। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा आत्मा चौथे गुणस्थान के अनुभव में आता है, और तभी से महा आनंद का मार्ग प्रारंभ होता है। आनंद के अनुभवपूर्वक महा आनंद का मार्ग प्रगट होता है।

❋ अहा, एक बार श्रद्धा कर कि मैं अपने ज्ञान से ज्ञात होता हूँ, ऐसा मेरा स्वभाव है। राग से अनुभव हो, ऐसा मैं नहीं; स्वभाव को प्रत्यक्ष करने की शक्ति मेरे ज्ञान में है—यह शक्ति राग में नहीं; रागरहित अंतर्मुख ज्ञान द्वारा मैं मेरे स्वभाव को आनंद से प्रत्यक्ष करके, अनंत सिद्धभगवंतों की पंक्ति में बैठनेवाला हूँ। जिसने आनंदमय चैतन्य की सेवा की, वह भव्य जीव संसार में माता के गर्भ में पुनः अवतार नहीं लेता। अरे, चैतन्य के पक्ष में जो आया, उसे अब भव कैसा? जो आत्मा स्वयं ही आनंदरूप हुआ, उसे अब दुःख कैसा? वह तो आनंद का वेदन करता हुआ वीतरागी मोक्षमार्ग में निर्भय सिंह समान विचरता है। वह आत्मा स्वयं ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है; उससे भिन्न कोई सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है। रागादि विकल्प उससे भिन्न हैं किंतु शुद्ध रत्नत्रय और अनंत गुणरूप शुद्ध भाव, वह तो अभेदरूप से आत्मा ही है, आत्मा से वे भिन्न नहीं, ऐसे परमानंद का आत्मा को बतानेवाला परमागम वह भी सुंदर है—आनंद का कारण है। सहज आनंद की पुष्टि होना, वह परमागम का सार है।

अहा, तीर्थंकरदेव की वाणी में आयी हुई बात है। भाई! तेरे स्वरूप की यह बात है। ऐसा परमस्वरूप समझते ही तेरा स्वकार्य सिद्ध होगा। इसलिये मोक्ष का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वकार्य है, उसे तू प्राप्त होगा। उस कार्य के कारणरूप होने की शक्ति जिसमें है, ऐसा शुद्ध चैतन्यस्वभाव अनंत-चतुष्टय से भरपूर त्रिकाली

आत्मा है। जिसके अंतर्मुख होकर अवलंबन करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है, वह मोक्षमार्ग है। मोक्षार्थी जीव को वह नियम से करनेयोग्य है।

* व्यवहार को-शुभराग को नियम से कर्तव्य न कहा; वह तो बीच में आता है, लेकिन वह मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्ष का उपाय तो राग से अत्यंत निरपेक्ष है, उसमें मात्र स्वद्रव्य का ही अवलंबन है, परद्रव्य का-राग का-भेद का उसमें किंचित् भी अवलंबन नहीं है।

* धर्मी कहता है कि अहो! मेरे परम तत्त्व में से ऐसे निरपेक्ष अनुपम रत्नत्रय को प्राप्त करके मैं मोक्ष के अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करूँगा।

* वाह, जन्म-मरण के दु:खों के अंत की और मोक्ष के आनंद की प्राप्ति की यह रीत है, असंग चैतन्यप्रभु में एकाग्रता करने से संसार का नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

* मोक्षमार्ग का कार्य प्रगट करने के लिये उसका कारण तो जीव के स्वभाव में ही विद्यमान हैं, उस कारण का स्वीकार करने से शुद्ध कार्य हुआ है—ऐसे कारणस्वभाव का जिसने स्वीकार किया, उसको रागादि में से कारणपने की बुद्धि नष्ट हो जाती है। अर्थात् राग मेरे रत्नत्रय का कारण बने, ऐसी मान्यता उसकी नहीं रहती।

* सम्यग्दृष्टि जीव ने परमात्मसुख का आस्वादन किया है; अत: उसे उस सुख की ही अभिलाषा है। संयोग की अनुकूलता या प्रतिकूलता आत्मा में नहीं। अंतरतत्त्व के आनंद की उत्पत्ति का स्थान तो स्वयं शुद्ध जीवास्तिकाय स्वयं है, उसमें अंतर्मुख होकर जो श्रद्धा हुई, वह सम्यग्दर्शन है, वह सम्यग्दर्शन समस्त जगत से अत्यंत निरपेक्ष है। सम्यग्दर्शन में मात्र श्रद्धा नहीं, किंतु उसके साथ आत्मा के अतीन्द्रिय आनंदज्ञान आदि अनंत निर्मल भाव प्रगट होते हैं, अनंतगुणों के निर्मल रस के भरपूर—ऐसा सम्यग्दर्शन स्वयं आनंदरूप है, तथा मोक्ष का कारण है।

हे वीर प्रभु! ऐसे आनंदमय मार्ग द्वारा आपने मोक्ष प्राप्त किया....

मैं भी आदरपूर्वक आपके ही मार्ग द्वारा मोक्षपुरी में आ रहा हूँ।

आनंदमय जिनमार्ग जयवंत वर्तो।

कलाकार

शंका और क्रोध द्वारा जीव के भावों में क्षणमात्र में कैसा परिवर्तन हो जाता है और वही जीव क्षणमात्र में अपने भावों को पलटकर कैसा उज्ज्वल हो जाता है—उसका सुंदर आलेखन इस लघु धर्मकथा में आप पढ़ेंगे। (संपादक)

कौशांबी नगरी में प्रसिद्ध एक कलाकार था, जिसका नाम अंगारक था। वह बहुत कुशल कलाकार होने के साथ-साथ धर्म का प्रेमी और उदार भी था; कला के साथ इन दोनों गुणों के समन्वय से उसकी प्रतिष्ठा चमक उठी थी। आभूषणों में मूल्यवान हीरा-माणिक जड़ना उसका मुख्य कार्य था और वह इसमें अति कुशल था। मूल्यवान रत्नों द्वारा जीवन में अनेक आभूषणों को वह शृंगारित कर चुका था परंतु रत्नत्रयरूपी रत्नों द्वारा अपने आत्मा को अभी तक वह शृंगारित नहीं कर सका था।

आज कलाकार का निवासस्थान पद्मरागमणि की रक्तप्रभा से जगमगा रहा था। उस पद्मरागमणि की ओर देखता हुआ अंगारक विचार कर रहा था कि 'इस मूल्यवान मणि को आभूषण में किसप्रकार सज्जित करना? क्योंकि यह कोई साधारण वस्तु नहीं है, यह तो कौशांबी के महाराजा गंधर्वसेन के द्वारा आभूषण से जड़ने के लिये दिया गया महामूल्यवान पद्मरागमणि है। मेरी कला पर के विश्वास कर महाराजा ने मुझे यह काम सौंपा है, अतः आभूषण में उसे उत्तमरीति से जड़ना चाहिये कि उसकी शोभा एकदम चमक उठे' इस विचार में कलाकार उस पद्ममणि को कभी आभूषण की एक तरफ लगाता, कभी दूसरी तरफ लगाता, और कभी वहाँ से उठाकर बीच में लगाता। इसप्रकार बारंबार परिवर्तित करते-करते बहुत परिश्रम के पश्चात् जब वह मणि इच्छित स्थान पर जड़ा गया, तब उसकी शोभा को देखकर उसका मन हर्ष से गदगद हो उठा। वाह! मेरी कला का यह एक सर्वोत्तम नमूना बनेगा और महाराज देखकर अत्यंत ही प्रसन्न होंगे।

इसप्रकार संतोष का श्वास लेकर जैसे ही मस्तक ऊँचा किया कि आंगन में एक दिगम्बर मुनिराज को देखा... अहा! योगी के पवित्र नेत्रों में से मानो परमशांत रस की वर्षा हो

रही हो... उनकी भव्य मुद्रा वीतरागता से आच्छादित थी... उनके समस्त पाप गल गये थे... अहो! आत्मा की पवित्रता की तो क्या बात!—जिनके चरण से स्पर्शित रज भी इतनी पवित्र है कि असाध्य रोग को भी नष्ट कर देती हे। जिनके दर्शनमात्र से मनुष्यों का मन पवित्र हो जाता है और जिनके हृदय के पाप धुल जाते हैं। ऐसे रत्नत्रयधारक योगीराज के आत्मतेज के सन्मुख उस पद्मरागमणि का तेज धुंधला लगता था।

ऐसे ऋद्धिधारी महा मुनिराज गोचरीवृत्ति से गमन कर रहे थे... उनको देखते ही अंगारक का मस्तक उनके चरणों में झुक गया... और सहसा उसके मुख में से उद्‌गार निकले "अहा! आज मेरा भाग्य खुल गया। आज मैं कृतार्थ हुआ। हे मुनिराज! आपके चरणकमल से मैं पावन हुआ... मेरा घर पवित्र हुआ... मेरे भवभव के पाप धुल गये। हे नाथ! पधारो.. पधारो.. पधारो.. इसप्रकार मुनिराज को पड़गाहन करके नवधाभक्तिपूर्वक अंगारक ने आहारदान दिया। आहारदान के समय घर में से एक मोर आकाश की ओर उड़ गया, परंतु उसकी ओर लक्ष नहीं किया। आहार के पश्चात् मुनिराज तो वापिस उद्यान में चले गये, और आत्मध्यान में लीन हुए। ऐसे पवित्रात्मा विशुद्धोपयोगी साधु शिरोमणि को आहारदान देने से आज अंगारक सचमुच कृतार्थ हुआ... धन्य हुआ... उसका चित्त अत्यंत प्रसन्न हुआ।

आहारदान के पश्चात्, वह कलाकार आभूषण में पद्मरागमणि को जड़ने का अपना कार्य पूर्ण करने के लिये आया। अरे यह क्या? पद्मरागमणि दिखायी नहीं देता। पद्मरागमणि को नहीं देखने से उसकी आँखों के सामने अंधकार छा गया... उसका मस्तिष्क मानों चक्कर लगाने लगा... अरे, इतनी देर में वह पद्मरागमणि कहाँ गया? क्या उसको पंख लग गये और यह उड़ गया? क्या उसे कोई चोरी कर ले गया? नहीं, मुनिराज के अतिरिक्त अन्य कोई घर में आया ही नहीं है? तो मणि कहाँ जाये? कुछ समझ में नहीं आता है कि मणि अचानक कहाँ अंतर्धान हो गया?

पद्मरागमणि के खो जान से अंगारक व्याकुल होकर घर में घूमने लगा... एक क्षण पहले मणि के तेज से जगमागता हुआ उसका गृह अंधकारमय हो गया। मानों पृथ्वी कंपित होने लगी हो! मणि जाने से उसकी प्रतिष्ठा भी चली गई—ऐसा उसे लगा। उसे चिंता हुई कि अरे! महाराजा को मैं क्या उत्तर दूँगा? हे भगवान! अब क्या होगा? निराशा से आक्रांतवश वह अचानक क्रोध से लाल-पीला हो गया। बस! चाहे कुछ भी हो मणि का पता लगाना ही चाहिये। उसने फिर विचार किया अरे! अभी-अभी ज्ञानसागर मुनिराज को आहार देने के लिये मैंने

पद्ममणि को इस पेटी पर रखा था और मुनि आहार करने के पश्चात् गये कि पद्ममणि गायब! उनके अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति मेरे घर में आया ही नहीं है... अतः... अतः... अवश्य ही इन मुनि का इसमें हाथ होना चाहिये। बस हो चुका! उपरोक्त विचार आते ही जिन योगीराज के प्रति एक क्षण पहले तो अंगारक को अत्यंत भक्ति और श्रद्धा का अगाध समुद्र उछलता था, उन्हीं मुनिराज के प्रति अब भयंकर क्रोध से अंगारक अंगारा जैसा बन गया... अवश्य, वह मुनि नहीं तथापि मुनिवेष में कोई चोर होगा; यह उसका ढोंगी का ही काम लगता है।

फिर भी, थोड़े समय पहले ही देखी हुई वीतरागी मुनिराज की भव्य उपशांत मुद्रा और अंतरंग में व्याप्त जैनधर्म के प्रति भक्ति के कारण कलाकार के अंतर में से आवाज उठी : यह क्या? क्या तू पागल हो गया है? जिसने इंद्र जैसा वैभव छोड़ा है और संसार को तृण सदृश जानकर त्याग दिया है, जगत के पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट वृत्तियों का उल्लंघन करके जो अत्यंत आगे बढ़ गये हैं—ऐसे मुनिराज क्या तेरे पत्थर के टुकड़े की चोरी करेंगे? सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र जैसे विश्ववंद्य रत्नों से जिनका आत्मा शोभायमान है, क्या वे जड़रत्न में मोहित होंगे? अरे, उन्होंने तो स्वात्मस्थित चैतन्यमणि प्राप्त कर लिया है, वे इस अचेतन मणि का क्या करेंगे?

एक क्षण में उसे ऐसा विचार आया... परंतु, मणि दृष्टिगोचर न होने से उसे फिर प्रश्न उठा—तो वह कहाँ गया? मणि के मोह से पागल जैसा होकर अंत में उसने निर्णय किया कि वह मुनि नहीं हैं परंतु कोई मायावी हैं; उसका ही यह मलिन कार्य है... ठग-मायावी ने मंत्र के प्रभाव से मणि गायब कर दिया है—परंतु मेरे से बचकर वह कहाँ जायेगा? मुनिवेष में रहकर ऐसा कार्य करता है, उसको मैं अच्छी सजा दूँगा। कहीं से भी उसे अभी पकड़कर लाऊँगा। ऐसा विचार धरणा करके क्रोध से लाल-पीला होता हुआ अंगारक उन मुनिराज को ढूँढ़ने उद्यान की ओर तेजी से चला।

एकांत शांत उद्यान में श्री ज्ञानसागर मुनिराज आत्मध्यान में निमग्न हैं। जगत के मायाजाल से अत्यंत दूर, संसार के विषम वातावरण से पार और परम आनंदस्वरूप सिद्ध भगवंतों के बिल्कुल समीप वे वर्त रहे हैं... अनंत सुखमय आत्मध्यान में वे अत्यधिक एकाग्र होते जाते हैं।

दूसरी ओर क्रोध से तमतमाता हुआ अंगारक हाथ में लाठी लेकर मुनि को ढूँढ़ता हुआ

दौड़ा जाता है। ध्यानस्थ मुनि को दूर से देखते ही वह गर्ज उठा—अरे पाखंडी! शीघ्र बोल कि मेरा मणि कहाँ है? परंतु कौन उत्तर दे! मुनि तो ध्यानस्थ हैं। यद्यपि वे मुनिराज अवधिज्ञानी थे, परंतु स्वरूप में से बाहर आकर अवधि का उपयोग करें, तभी तो ज्ञान हो!—वह तो आत्मसाधना में तल्लीन थे।

उनके मौन से अधिक क्रोधित होकर अंगारक ने कहा—अरे धूर्त! चोरी करके फिर ढोंग करता है! क्या समझता है कि मैं तुझे ऐसे ही छोड़ दूँगा? जल्दी बोल, मेरा मणि कहा है?

परंतु वीतरागी मुनिराज की क्षमारूपी ढाल पर वह क्रूर वचनरूपी बाण कोई प्रभाव नहीं कर सका... मुनिराज तो अडिगरूप से ध्यानस्थ ही थे।

अंगारक ने देखा कि मेरे वचन से इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है परंतु मणि अवश्य ही कहीं छुपा रखा है... इसीकारण यह मौन है... क्यों, बोलता है या नहीं? अथवा इसका स्वाद चखाऊँ—ऐसा कहकर उसने मुनिराज ऊपर लाठी उठाई...

अरे! एक क्षण पूर्व तो जिनके पावन चरणकमल में स्वयं श्रद्धापूर्वक सिर झुकाता था उनके ही मस्तक पर अब प्रहार करने के लिये अंगारक तैयार हुआ है। जीव के परिणामों की कैसी विचित्रता है!!

मुनिराज बोले नहीं, न ही आत्मध्यान से डिगे! अंगारक ने लाठी ऊँची करके मुनि के मस्तक में मारी... परंतु लाठी मुनिराज के मस्तक पर पहुँचे, उससे पूर्व तो ऊपर वृक्ष की डाल पर बैठे मोर के गले पर लगी और तुरंत ही करुण चित्कार के साथ मोर के कंठ से एक वस्तु नीचे गिर पड़ी। तीव्र प्रकाश से पृथ्वी जगमगा उठी... मानों मुनिराज की रक्षा होने से पृथ्वी आनंद से हंस रही हो....

वह था पद्मरागमणि! अंगारक तो उस मणि को देखते ही आश्चर्य से जड़ ही बन गया... उसकी आँखों के सामने फिर अंधकार छा गया... लाठी हाथ में से छूट गई और उसका शरीर मुनिराज के चरणों में गिर पड़ा। पद्मरागमणि खो जाने का रहस्य अब खुल गया था और वह कलकार अपने अविचारी कर्तव्य के कारण पश्चाताप के सागर में अचेत होकर पड़ा था... ध्यानस्थ मुनिराज को तो बाह्य में क्या हो रहा था, उसका ध्यान ही कहाँ था?

श्री मुनिराज ने 'णमो सिद्धाणं' कहकर जब ध्यान पूरा किया और नेत्र खोले तब देखा कि कुछ समय पूर्व अत्यंत प्रसन्न यह अंगारक चरणों के समीप पश्चाताप से जोर-जोर से रो

रहा था... एक ओर पद्मराग मणि धूल में लथपथ पड़ा था। थोड़ी दूर लाठी पड़ी थी। ऊपर बैठा मोर मणि की ओर एकटक देख रहा था... श्री मुनिराज सब परिस्थिति समझ गये... उन्होंने अंगारक को आश्वासन देते हुए महा करुणा से कहा : वत्स अंगारक! दुःखी न हो, क्षोभ छोड़ दे। प्रतिष्ठा और लक्ष्मी का मोह ऐसा ही है कि जीव को अविचारी बना देता है। भाई! जो हो गया, सो हो गया... अब शोक छोड़ दे... और आत्महित साधने के लिये तत्पर हो!

पश्चाताप से जलते अंगारक के हृदय में मुनिराज के वचनों ने अमृत सींचन किया। उसने हाथ जोड़कर मुनिराज से कहा—प्रभो! मुझे क्षमा करो... मोह से अंधा होकर मैंने महा अनुचित कार्य किया... क्रोध से मैं अविचारी बन गया—प्रभो! मुझे क्षमा करके इस भयंकर पाप से मेरा उद्धार करो। नाथ! आपश्री के आहारदान के समय मैंने यह मणि पेटी पर रखा था और उसी समय ऊपर बैठा यह मयूर खाने की वस्तु समझकर उठा ले गया... परंतु वह मणि उसके गले में अटक गया... मैंने बिना विचार किये आप पर शंका की... आप पर प्रहार करने के लिये लाठी उठाई; परंतु प्रभो! सद्भाग्य से वह मोर आपके पीछे आकर वृक्ष पर बैठा था और उसके गले पर लाठी लगते ही चोंच में से मणि निकल पड़ा... इसप्रकार आपके प्राण बच गये... मोर के प्राण भी बच गये और मुझ पापी के हाथ से एक वीतराग योगी हिंसा होती-होती बच गई। इसप्रकार बोलते-बोलते पश्चात्ताप से मानों अंगारक के पाप पानी होकर आँखों में से अश्रुधारारूप से बाहर आते थे। कुछ समय में थककर उसने कहा : प्रभो! आपके वचन से मैंने नवजीवन प्राप्त किया है। नाथ! इस पापमय संसार से अब मेरा उद्धार करो... मुझे अभी ही निर्ग्रंथ मुनिदीक्षा दो... और मेरा कल्याण करो!

मुनिराज ने कहा—बंधु! तुम्हारे भाव उत्तम हैं... परंतु पहले इस पद्ममणि को ले जाकर राजा को वापिस दे आओ...

प्रभो! इस पद्ममणि को स्पर्श करते हुए भी मेरा हाथ कांपता है...

'वत्स! ऐसा समझना कि इस मणि के निमित्त से ही आज तुझमें महान परिवर्तन हो रहा है...'

अंगारक ने कांपते हाथों से मणि उठाया और मुनिराज के चरणों में नमस्कार करके राजदरबार की ओर चला।

***

'लीजिये, महाराज! आपका यह पद्मरागमणि' अंगारक ने कांपते हाथों से मणि महाराजा की ओर किया।

मणि को ज्यों का त्यों वापिस आता देखकर राजा ने विस्मय से पूछा—क्यों कलाकार, मणि किसलिये वापिस दे रहे हो?

राजन्! मणि को आभूषणों में जड़ने का काम अब मुझसे नहीं हो सकता।

अरे! क्या कहते हो, अंगारक? तुम्हारे जैसा कुशल कलाकार यदि इस कार्य को नहीं कर सकता तो अन्य कौन कर सकता है?—राजा ने पूछा।

अंगारक ने कहा : राजन्! ऐसे मणिरत्नों को जड़-जड़कर मैंने अनेक आभूषणों को शोभायमान किया... और इसमें ही जीवन बीत गया... परंतु सम्यग्दर्शन... सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नों से मैंने अपने आत्मा को आज तक आभूषित नहीं किया... महाराज! अब तो जीवन में इन रत्नों को जड़कर आत्मा को सुशोभित करना है।

कलाकार को अचानक क्या हो गया, इसे राजा नहीं समझ सका... अतः उसने पूछा : कलाकार, क्या बात है, वह तो कहो?

अंगारक ने कहा : राजन् आपके इस मणि के निमित्त से ही आज एक घटना हो गई कि जिसे मैं कहने में समर्थ नहीं हूँ। परंतु इस मणि को जड़ने से जो पुरस्कार मुझे मिलता, उससे भी विशिष्ट कोई महान पुरस्कार आज मुझे मिल रहा है। राजन्! अब मैं रत्नत्रयमणि से अपने आत्मा का शृंगार करने जाता हूँ....

'परंतु मेरे इस एक मणि को जड़ने का कार्य तो पूर्ण कर दे'

नहीं राजन्! अब यह अंगारक पहले जैसा कलाकार नहीं रहा; अब तो यह अपने आत्मा में ही सम्यक्त्वादि मणि जड़ने के लिये जाता है... ऐसा कहकर अंगारक चल पड़ा।

राजा तो दिग्मूढ़ बना देखता ही रह गया। बहुत विचार करने पर भी इस घटना का रहस्य वह नहीं समझ सका। दूसरे दिन, जब नगरी के लोग ज्ञानसागर मुनिराज के दर्शनों को आये, तब उनके साथ अन्य एक नये मुनिराज को देखकर नगर-जन विस्मित हुए और सबने भक्ति से उनके चरणों में भी मस्तक झुकाया। परंतु अरे! यह तो कलाकार अंगारक है। अपनी

नगरी के एक नागरिक को इसप्रकार मुनिदशा में देखकर सबको आश्चर्य हुआ और क्षणमात्र में संपूर्ण नगरी में यह बात फैल गई।

राजा को यह समाचार ज्ञात होने पर वह शीघ्रता से आ पहुँचा... मुनिराज को वंदनादि करके राजा ने पूछा : प्रभो! कल का कलाकार आज अचानक अध्यात्मयोगी बन गया—इसमें क्या रहस्य है? उसे जानने को हम सब आतुर हैं।

श्री ज्ञानसागर मुनिराज ने मणि खो जाने, और प्राप्त होने की सब बात सविस्तार कहकर रहस्य का उद्घाटन किया और कहा—राजन्! अब उसने अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी मणि जड़ दिया है; ज्ञानमणि के प्रकाश से उसका आत्मा जगमगा रहा है और उसका अज्ञान-अंधकार नष्ट हो गया है। अब वह जड़ पत्थर का कलाकार नहीं रहकर चैतन्यमणि का कलाकार बना है।

कलाकार की कथा सुनते ही राजा और नगरजन अत्यंत विस्मित और हर्षित हुए... सबने एक स्वर से 'रत्नत्रय कलाकार की जय... अंगारक मुनिराज की जय' बोलकर आकाश गुँजा दिया... और राजा ने उस पद्मरागमणि द्वारा अंगारक मुनि के चरणों की पूजा की... कलाकार ने जिस मणि को छोड़ दिया था, वही फिर से उसके चरणों में जगमगा रहा था।●

आत्मा का ज्ञानस्वभाव

जिसप्रकार सूर्य जगत के अनेक शुभाशुभ पदार्थों को राग-द्वेष के बिना प्रकाशित करता है, परंतु उनका कर्ता या भोक्ता नहीं होता—ऐसा ही उसका प्रकाशकस्वभाव है; उसीप्रकार ज्ञानसूर्य-आत्मा भी अपनी चैतन्य-किरणों द्वारा शुभाशुभ कर्म के उदय को या निर्जरा को, बन्ध को या मोक्ष को जानता ही है, परंतु उसका कर्ता-भोक्ता होने का उसका स्वभाव नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है।

वास्तविक शांति की खोज में...

जैसे तृषातुर जीव को जल पीने के पहले ही तालाब के किनारे आने से जल की शीतलता का वेदन होता है... उसीप्रकार सम्यक्त्व-सन्मुख जीव शांति के समुद्र के किनारे आया है, उसे कैसा अनुभव होता है ? उसका यह वर्णन है।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व आत्मसन्मुख जीव का धार्मिक रहन-सहन तथा विचारधारा किसप्रकार की होती है ? और सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् उसका धार्मिक रहन-सहन तथा विचारधारा किसप्रकार की होती है ?—इसका उत्तर वास्तव में यह है कि—'सम्यग्दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि के अंतरंग को जान सकता है' हमारे जैसे जिज्ञासु जीव उसे पहिचानने का प्रयत्न करके उस दशा की भावना भाते हैं, उसकी पहिचान, वह भेदज्ञान का कारण है।

जीव अनंतकाल से दु:खी हो रहा है; वह दु:ख पर के कारण नहीं, किंतु अपने स्वभाव को भूलकर परभाव से वह दु:खी हो रहा है—ऐसा जिसे अंतर में दु:ख लगता है, वह सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उसे किसी न किसी प्रकार से सत् देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त प्राप्त हो जाता है, और उनके बताये हुए मार्ग का वह जीव उत्साह से आदर करता है, वह मात्र बाह्य निमित्त में न अटककर गुरु का उपदेश-स्वाध्यायादि द्वारा अंतर में सुख प्राप्ति का रास्ता ढूँढ़ता है, जैसे-जैसे रास्ता मिलता जाता है, वैसे-वैसे उसका प्रमोद बढ़ता जाता है; अभी वास्तविक शांति मिली नहीं, फिर भी शांति का अनुभव होता है। जैसे तृषातुर जीव को जल प्राप्त होने के पहले भी सरोवर के किनारे आने से जल की शीतलता का वेदन होता है, वैसे सम्यक्तसन्मुख जीव शांति के समुद्र के किनारे आया है, उसकी उसप्रकार की शांति का अनुभव अपने में होता। जैसे-जैसे चैतन्य की अधिक महिमा भासने लगती है, वैसे-वैसे वह जगत के पदार्थों के प्रति उदासीन होता जाता है। मुझे इस जगत से कुछ काम नहीं और मैं भी इस जगत का कुछ करूँ, ऐसा नहीं हूँ। इस जगत के लिए मैं, और मेरे लिए यह जगत कुछ भी कार्यकारी नहीं है।—ऐसे वैराग्यमयी विचार द्वारा पर से भिन्नता जानकर वह आत्म-साधना के सन्मुख होता है।

आत्मा का स्वरूप, लक्षण तथा कार्य क्या ? इसका मुमुक्षु जीव निश्चय करता है, निज

आत्मा के आश्रय से ही मुझे सुख होगा—ऐसा जिसे विचार आता है, पश्चात् वह चिंतन-मनन द्वारा अपने विचारों को गुरु के उपदेश के साथ मिलाता है, उपदेश के अनुसार उसे वस्तुस्वभाव भासने लगता है। ज्ञानादि निजगुणों से परिपूर्ण, तथा अन्य सर्व पदार्थों से भिन्न, कर्म-नोकर्म तथा रागादि विकारी भावों से भी भिन्न ऐसा आत्मस्वभाव, शुद्ध चैतन्य-आनंदमयी, अनंत चैतन्यलक्ष्मीवान मैं ही हूँ। ऐसा निजस्वरूप का निर्णय करके उसकी गहराई में वह प्रवेश करता है।

—ऐसे जीव की विचारधारा क्षण-क्षण में आत्मसन्मुख होती जाती है। स्वाध्याय, गुरु उपदेश और अंतर में अपने चिंतवन द्वारा उसे अपना सम्यग्दर्शनरूपी कार्य करने का बहुत ही हर्ष और उत्साह है, उसमें वह प्रमाद नहीं करता। तत्त्वविचार के प्रयत्न से उसे स्व-पर की स्पष्ट भिन्नता भासित हो और स्वसंवेदनपूर्वक मात्र अपने ज्ञानमय आत्मा में ही 'यह मैं हूँ' ऐसी अहंबुद्धि हो, तब वह जीव सम्यग्दृष्टि होता है। पहले जैसे शरीर में मिथ्या अहंबुद्धि थी कि 'मनुष्यादि ही मैं हूँ' वैसे अब देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्वानुभवपूर्वक ऐसी सम्यक् अहंबुद्धि हुई कि 'यह चैतन्यरूप से अनुभव में आनेवाला आत्मा ही मैं हूँ। सम्यग्दर्शन होते ही अंतर में ज्ञान की अनुभूतिपूर्वक आत्मा के आनंद का वेदन होता है। जब तक ऐसा अनुभव न हो, तब तक गहराई में तत्त्वविचार का उद्यम किया ही करे—यह जीव का कर्तव्य है, और कर्म के स्थिति-अनुभाग आदि में जो सम्यक्त्व होने योग्य परिवर्तन स्वयमेव हो जाता है।

देह से भिन्न चैतन्यमय आत्मा में अस्तित्व-वस्तुत्व आदि अनंत शक्तियाँ विद्यमान हैं। ज्ञान-आनंदरूप परिणमन करना, यही मेरा स्वभाव है। जड़ के किसी भी परिणमनरूप मैं नहीं होता; इसी से मैं उसका कुछ भी नहीं कर सकता। ऐसी विचारधारा से पर का रस कम होता जाता है, तथा चैतन्य का रस बढ़ जाता है। मैं असंख्यप्रदेशी एक अखंड पदार्थ हूँ और मेरे सर्व प्रदेशों में दर्शन-ज्ञान-आनंद आदि अनंत गुण व्याप्त होकर रहे हैं, वे ही श्रद्धा-ज्ञान-सुख आदि की पर्यायरूप होते हैं, उनका कर्ता आत्मा ही है।—ऐसे आत्मा के स्वभाव को जानकर उसके ध्यान का अभ्यास करने से वह जीव अल्पकाल में सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। कोई इस भव में ही प्राप्त करता है; यदि इस भव के (तत्त्वनिर्णय के) संस्कार लेकर नरक-तिर्यंच पर्याय में जावे तो वहाँ भी सम्यक्त्व प्राप्त करता है। वास्तव में तो अंतर में स्वरूपसन्मुख होने का अभ्यास ही सम्यग्दर्शन का कारण है।

चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग कभी अल्पकाल होता है, रहता है, तथा उसे शुद्धात्मप्रतीति हुई है, वह तो निरंतर चालू ही रहती है। ऐसी दशा में स्वाध्याय-मनन-जिनपूजा-गुरु सेवा आदि के शुभभाव होते हैं, उसीप्रकार गृहसंबंधी व्यापारिक कार्यों में भी प्रवर्तता है, किंतु उसकी दृष्टि में आया हुआ आत्मतत्त्व तो उन सभी प्रकार के रागादि से भिन्न ही वर्तता है। ऐसे सम्यग्दर्शन के लिये उद्यमी जीव सच्ची जिज्ञासापूर्वक उसके प्रयत्न में लग जाता है। कदाचित् सम्यग्दर्शन शीघ्र न हो तो अधिक से अधिक प्रयत्न में लगा रहता है, किंतु उसमें थकता नहीं है, या आकुल-व्याकुल बनकर उसका प्रयत्न छोड़ता नहीं है, तथा वीरता से उत्साहपूर्वक उद्यम करके महान कार्य कर ही लेता है।

सम्यग्दर्शन होने पर देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची पहिचान हो जाने पर उसकी उपासना में परम प्रमोद और भक्ति होती है, साधर्मी के प्रति अति वात्सल्य, धर्म-प्रभावना और दानादि भी करता है। चैतन्यतत्त्व की गंभीर महिमा का बारंबार परमप्रेमपूर्वक गहराई से चिंतवन करने में उसे आनंद आता है तथा शेष राग को ज्ञान से भिन्न जानता है। अत: उसका कर्ता नहीं बनता, ज्ञायकभावरूप से ही रहता है।

जिसप्रकार राजा आदि पुण्यवंत पुरुष जहाँ पधारते हैं, वह घर तो सुंदर होता ही है, परंतु उसका आंगन भी स्वच्छ होात है; उसीप्रकार तीन लोक में श्रेष्ठ ऐसा सम्यग्दर्शन-राजा जिसके अंतर में विराजमान हुआ, उसके अंतर के निजघर की शुद्धता की तो क्या बात? उसमें तो शुद्ध चैतन्य परमात्मा विराज रहे हैं, और उसका आंगन अर्थात् बाह्य व्यवहार भी सुंदर होता है; सम्यग्दृष्टि के शुभपरिणाम भी अन्य की अपेक्षा भिन्न होते हैं; उसे तीव्र कलुषता का अभाव होता है।

जैसे बालक को शक्कर का स्वाद मीठा लगने के बाद उसे बारंबार शक्कर खाने की इच्छा होती है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन द्वारा एक बार चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद का मधुर स्वाद लेने के बाद धर्मी को बारंबार उस आनंद का अनुभव करने की इच्छा होती है; वह अपना उपयोग बारंबार आत्मोन्मुख करना चाहता है, आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उसका चित्त स्थिर नहीं होता। उसे सहजानंदी ज्ञायकस्वभावी आत्मा की लीनता में मस्त रहने के अतिरिक्त दूसरी कोई आकांक्षा नहीं होती। संसार के बाह्य विषयों में उसे आनंद नहीं लगता। ज्ञानसमुद्र में से आत्मज्ञान के अमृत का पान किया, उसे ही अधिक से अधिक पीने की भावना होती है। अंतर में ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान आनंद... आनंद... आनंद ही मेरा स्वरूप है, वही मैं

हूँ—ऐसी जागृति रहती है। राग तथा विकल्प हो, उसे निरंतर अपने ज्ञान से भिन्न ही जानता है। विकल्प का वेदन उसे दु:खरूप लगता है। विकल्प को अपना स्वरूप नहीं मानता, इसलिये वह विकल्पों से पृथक् निज-शांत चैतन्य का आश्रय लेता है।

— बाह्य में व्यापार-धन्धा आदि करता हुआ देखने में आये, अशुभ राग भी हो—फिर भी उस समय निजतत्त्व को वह सबसे भिन्न ज्ञायकभावरूप ही जानता है। कुटुम्ब या समाज के बीच में देखने में आये किंतु उनसे आत्महित का संबंध किंचित् मात्र भी नहीं मानता। अरे, पुण्य की भी जहाँ रुचि नहीं, वहाँ अन्य की क्या बात? बाह्य में भले ही पुण्य-सामग्री का संचय हो, या बड़ी प्रतिकूलता हो, तथापि दोनों से पार अंदर की चैतन्यशांति छूटती नहीं है। वह जानता है कि जगत का कोई भी पदार्थ मेरी शांति को देनेवाला या नष्ट करनेवाला नहीं है, मेरे सुख का वेदन अंतर में से आया है। वह किसी भी संयोग में नष्ट नहीं होता। क्योंकि उस शांति का वेदन कहीं बाहर से नहीं आया, जितनी बाह्य में वृत्ति जाती है, उतना दु:ख है। इसप्रकार दु:ख को दु:खरूप जानकर उससे भिन्न अंतरात्मा को पकड़कर उसके आश्रय से अंतर में आनंद-सुख का स्वाद लिया ही करता है।

—ऐसी अपूर्व अंतरंग दशा सहित उत्तम विचारधारा तथा उत्तम धार्मिक रहन-सहन सम्यग्दृष्टि जीवों का होता है। उनका जीवन धन्य है!●

वस्तुस्वभाव

तत्त्वदृष्टि से देखने पर, राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाले अन्य द्रव्य जरा भी नहीं दिखते। क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती है—ऐसा अंतरंग में सर्वथा प्रगट-प्रकाशित है। राग-द्वेष चेतन के ही परिणाम हैं; अशुद्ध निश्चय से अशुद्ध उपादान जीव के द्वारा है, अत: अन्य द्रव्य आत्मा को राग-द्वेष उत्पन्न करा सकें, ऐसा नहीं है; क्योंकि सदा सभी द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपने स्वभाव से ही होते हैं, अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के द्वारा पर्यायों की उत्पत्ति नहीं होती। लोक-व्यवहार में कर्ता कहने का उपचार है, परमार्थ में नहीं है, 'तत्त्वार्थ निश्चयोक्ति व्यवहारी जनोदितम्'—ऐसा वस्तुस्वभाव जाननेवाला ही स्वसन्मुखता द्वारा बलवान-धीर-वीर और सच्चा समतावान होता है।

परमागम-मंदिर में प्रथम मंगल-प्रवचन

फाल्गुन सुदी दोज सोनगढ़ के जिनालय में सीमंधर प्रभु को विराजमान करने का मंगल दिन है। इस दिन श्री सीमंधर प्रभु की वाणी के साररूप समयसार-परमागम उत्कीर्ण की हुई संगमरमर की शिला परमागम -मंदिर में लगाने का मुहूर्त पूज्य गुरुदेव के स्वहस्त से हुआ। सवेरे-दोपहर को प्रवचन भी आगम-मंदिर में ही हुए। अनेक प्रकार से मंगल-उत्सव हुआ। परमागम-मंदिर में हुए मंगल-प्रवचनों का प्रसाद निम्नानुसार है।

[नियमसार, कलश 19-20 तथा समयसार, गाथा 196]

धर्मात्मा जीवों को क्या करना? जिसको सुखी होना हो, उसे क्या करना? कैसे आत्मा का ध्यान करना? उसकी यह बात है—परमागम-मंदिर में मंगलरूप में यह बात आयी है। चैतन्यशरीरी आत्मा जो शांत निराकुल सुख से भरपूर है—ऐसे आत्मा की भावना करके, परिग्रह का त्याग करना और शरीर की भी उपेक्षा करना। अंतर्मुख होकर चैतन्यस्वरूप आत्मा का अवलंबन करते ही परद्रव्य के ग्रहण की बुद्धि छूट जाती है। उस समय आनंद का अनुभव होता है, वह अपूर्व मंगल है-वह परमागम का सार है।

हे भव्य! एक बार तू भेदज्ञानज्योति प्रगट कर, तो उसके फल में तुझे ऐसी केवलज्ञानज्योति प्रगट होगी कि जो जगत को मंगलरूप है। अहो! आत्मा आनंद से परिपूर्ण है, उसकी भावना करना, वह परमागम के अभ्यास का फल है। अहो! तीर्थंकर परमात्मा के ज्ञान में आये हुए आनंदमयी आत्मा की धर्मी भावना भाते हैं; वह राग की भावना नहीं करता। सहज ज्ञानस्वरूप आत्मा तो आनंद में विस्तृत है; जड़ शरीर में या राग में उसका विस्तार नहीं है।

प्रथम ज्ञान और आनंद से भरपूर ऐसा तत्त्व निर्णय में और लक्ष्य में आना चाहिये—पश्चात् उसका अनुभव होता है। जिसकी निर्णय में ही भूल हो, वह अनुभव कैसे करेगा? अहा! मेरा आत्मा जगत में सबसे सुंदर कोई अद्भुत ज्ञान-आनंद से भरपूर चैतन्य-चमत्कारी महा पदार्थ है—ऐसी परम महिमा से अंतर आत्मा को लक्ष्य में लेकर बारंबार उसकी भावना करने से अतीन्द्रिय आनंद सहित भगवान का अनुभव होता है। अतः हे जीव! आनंद से

परिपूर्ण आत्मराम के साथ रमण कर! उसकी भावना में आनंद के वेदन होता है। आनंद से परिपूर्ण आत्मा की तू रुचि कर, और परभावों के साथ का एकत्व छोड़।—ऐसी भावना से केवलज्ञान प्रगट होता है। देखो, आज परमागम के मंगल में इस जगत को मंगलरूप केवलज्ञान की बात आयी।

'भेदज्ञानमहींज सत्फलमिदं वन्द्यं जगत्मंगलम्'

अहो, भेदज्ञानरूपी वृक्ष का सुंदर फल—ऐसा केवलज्ञान, वह जगत को मंगलरूप है, वंद्य है। चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी भावना करनेवाला भेदज्ञान, वह समस्त मोह-राग-द्वेष को नष्ट करके अपूर्व केवलज्ञानज्योति को प्रगट करता है। आनंद तो चैतन्यमय आत्मा में है, उसमें राग-द्वेष-मोह का अंश भी नहीं, इसलिये उसमें एकाग्र होने से राग-द्वेष-मोह की सत्ता का नाश (सत्यानाश) हो जाता है। और वीतरागी आनंदमय केवलज्ञान-ज्योति प्रगट होती है; वह जगत में श्रेष्ठ मंगलरूप है।

शांति का अपूर्व प्रवाह जिसमें से प्रगट हो, ऐसी सर्वोत्तम वस्तु मैं स्वयं हूँ, इससे श्रेष्ठ अन्य कुछ जगत में नहीं है। जगत में जे.पी. आदि पदवी को बड़प्पन मानते हैं; लेकिन वह तो बाह्य की उपाधि है, स्वभावोन्मुख होने से मोह को जीतकर आत्मा विजय प्राप्त करे, वह वास्तव में जे.पी. है, इससे श्रेष्ठ कोई पदवी जगत में नहीं है। अरे! एक बार अंदर में दृष्टि तो दे। अंतर में राग से भिन्न होकर भगवान का अनुभव करते ही तुझे कोई अपूर्व आनंद आयेगा... अपूर्व मंगलरूप शांत दशा हो जावेगी... और उसी की भावना करते-करते केवलज्ञानरूप महान फल प्राप्त होगा... कि जो उत्तम फल जगत में सर्वोत्कृष्ट है, वंदनीय है और संपूर्ण जगत के मंगलरूप है। जो कोई जीव ऐसे उत्तम सर्वोत्तम केवलज्ञान को लक्षगत करता है, वह मंगल को प्राप्त होता है। अहा, धन्य रे धन्य! मेरा आत्मा सिद्ध समान अनंत आनंद से भरपूर है। ऐसा स्वभाव का लक्ष्य करके, प्रथम उसका अनुमान से विश्वास करके अनुभव करने पर अपूर्व आनंद आता है। भाई, विश्वास करके अंतर में जा... मोक्ष की ओर तेरा मंगल प्रस्थान होगा। 'अहो! आनंदधाम की ओर अब हमारा प्रस्थान हुआ है।'

आनंद से उल्लसित धर्मात्मा की ज्ञान-वैराग्यधारा

फाल्गुन सुदी दोज को परमागम-मंदिर के मंगल-प्रवचन में सवेरे नियमसार पर मंगल-प्रवचन हुए। दोपहर को समयसार की 196 गाथा द्वारा धर्मात्मा की अद्भुत आनंदपरिणति गुरुदेव ने समझायी। ज्ञान-वैराग्य से भरपूर उसका वर्णन निम्नानुसार है।

धर्मी जीव को भेदज्ञान द्वारा जब चैतन्य के अतीन्द्रिय शांति का वेदन हुआ, तब से ऐसे चैतन्य की अन्य समस्त पदार्थों से अधिकता भासित हुई और उसकी धुन लगी। आत्मा के आनंद का स्वाद आने से उसकी लगनी के बल से अन्य सभी ओर से धर्मी जीव की ज्ञानपरिणति विरक्त हो गयी है, अर्थात् भिन्न ही रहती है। प्रगट पर्याय में ज्ञान-वैराग्य का अभेद सामर्थ्य धर्मी को प्रगट हुआ है। आनंदस्वभावी आत्मा का अनुभव करके जिस शांति का धर्मी को वेदन हुआ, उसकी क्या बात! अहा, ऐसी शांति के अमृत का स्वाद लेने के बाद जहर के समान राग में या राग के विषयों में धर्मी को प्रेम कैसे रहेगा? राग के स्वाद को धर्मी अपना क्यों माने?

ज्ञान के साथ धर्मी जीव को अनंत गुणों का सामर्थ्य प्रकट हुआ है। भाई, ऐसा परम शांत चैतन्यतत्त्व तुझे जैनमार्ग के अतिरिक्त अन्य कौन बतायेगा? अन्यत्र तो आत्मा के नाम से रागादि की पुष्टि करनेवाले लुटेरे हैं—वहाँ कहीं भी ऐसे चैतन्यतत्त्व का स्वरूप तुझे नहीं मिलेगा। अहो, ज्ञान किसे कहना? जब ज्ञान प्रगट हुआ, तब रागरहित ऐसी अपूर्व शांति प्रगटी कि चाहे जैसी प्रतिकूलता में भी ज्ञान अपनी शांति से नहीं छूटता; उस ज्ञान के बल से धर्मी जीव कर्मों की निर्जरा ही करता है।

अहो, कुन्दकुन्द भगवान ने ऐसे समयसारादि परमागमों की रचना करके भरतक्षेत्र के जीवों पर बड़ा उपकार किया है। उनकी वीतरागी वाणी इस परमागम-मंदिर में टंकोत्कीर्ण होनेवाली है, उसका आज मुहूर्त हुआ। (समयसार की पहली शिला आज गुरुदेव के मंगल हस्त से परमागम-मंदिर में लगायी।) संत परमागम द्वारा आत्मा का वैभव बताकर कहते हैं

कि—अहा, भगवान आत्मा का कैसा अचिंत्य वैभव है–उसे देखने को आओ! आत्मा की श्रद्धा हो ही उसके साथ अतीन्द्रिय आनंद–ज्ञान–शांति–वैराग्य–प्रभुता आदि अनंत गुणों का वैभव प्रगट होता है। अपना ऐसा वैभव जिसने अपने में देखा—वह जीव कभी राग के रंग में लीन नहीं होता; उसकी परिणति में ज्ञान–वैराग्य का अलौकिक बल प्रगट हो जाता है। ऐसे आत्मा के आनंद का अनुभव करनेवाले राजकुमार मुनि होने के लिये जब वन में जाते हैं, तब कहते हैं कि अरे माता! हमें चैतन्यस्वाद के सन्मुख इस संसार की किसी भी वस्तु में रस नहीं लगता। चैतन्यनिधान के पास अब हमें जगत का कोई भी निधान श्रेष्ठ भासित नहीं होता।—अरे, अभी राज्य करते हों, विवाह करते हों, तथापि धर्मी की परिणति ज्ञान–वैराग्य–संपन्न है, उस परिणति का नाश नहीं होता, उसके ज्ञान और वैराग्य का ऐसा कोई बल है कि राग के किसी अंश को वह अपने में मिलाता नहीं है, या किसी विषय के वेदन को चेतना के वेदन में मिलाता नहीं है। चेतना को अत्यंत भिन्न रखता है। चेतना में स्वभाव का रंग लगा, वह कभी उतरता नहीं और राग का रंग कभी लगता नहीं।—ऐसी दशा का नाम धर्म है।●

स्वानुभव की किरणें

स्वानुभवरूपी सूर्य की किरणों द्वारा ही मोक्षमार्ग दिखायी देता है। जहाँ स्वानुभव की किरणों का प्रकाश नहीं है, वहाँ मोक्षमार्ग दिखायी नहीं देता। राग तो अंधकारमय बंधभाव है, उसके द्वारा मोक्षमार्ग की साधना कहाँ से होगी? अरे, बंधभाव और मोक्षभाव के बीच भी जिसे विवेक नहीं है, उसे शुद्धात्मा का वीतराग संवेदन कहाँ से होगा? और स्वानुभव की किरणें फूटे बिना मोक्षमार्ग का प्रकाश कहाँ से प्रगट होगा? अज्ञानी के स्वानुभव का कण भी नहीं है तो फिर मोक्षमार्ग कैसा? स्वानुभव के बिना जो भी भाव करे, वे सब भाव बंधमार्ग में हैं, वे कोई भाव मोक्षमार्ग में नहीं आते, और उनसे मोक्षमार्ग की साधना नहीं होती। स्वानुभव का सूर्य उदित हो, तब मोक्षमार्ग सच्चा।

श्री पंडित दीपचंदजी साधर्मीकृत

ज्ञान-दर्पण

[अंक 335 से आगे]

सकल पदारथ को सकल विशेष भाव, तिनकौं लखाव करि ज्ञानज्योति जगी है।
आतमीक लक्षण की सकती अनंत जेतौ, जुगपद जानिवेकौ महा अति बगी है॥
सहज सुरस सुसंवेदन ही मैं आनंद की, सुधाधार होई सही जाकै [1]स्पर्श पागी है।
परम प्रमाण जाकौ केवल अखंड ज्ञान, महिमा अनंत दीप [2]सकति सरबगी है॥68॥

आतमअरूपी परदेश को प्रकाश धर, भयो ज्ञेयाकार उपयोग समलिन है।
लक्षण है जाको ऐसो विमल सुभाव ताकौ वस्तु सुद्धताई सब वाहीकै अधीन है॥
जथारथभावकौ लखाव लिए सदा-काल, द्रव्य-गुण-परजाय यह भेद तीन है।
कहै 'दीपचंद' ऐसी स्वच्छ है सकति महा, सोहौ जिय जानै जाकै सुख की कमी न है॥69॥

अनंत असंख्य संख्यभाग वृद्धि होय जहाँ, संख्य सु असंख्य सु अनंतगुणी वृद्धि है।
एऊ षट् भेद वृद्धि निजपरिणाम करै, लीन होइ हानि सो ही करै व्यक्त सिद्धि है॥
परिणति आपकी स्वरूपसौं न जाय कहूँ, चिदानंद देव जाकै यहै महा ऋद्धि है।
सकति अगुरुलघु महिमा अपार जाकी, कहै 'दीपचंद' लखैं सब ही समृद्धि है॥70॥

दरबस्वभावकरि ध्रौव्य रहै सदाकाल, व्यय उत्पाद सो ही समै समै करे है।
सासतो क्षणिक उपादान जानैं पाईयतु, सोही वस्तु मूलवस्तु आपही मैं धरै है॥
द्रव्य गुण परजै की जीवनी है याही यातैं, चेतना सुरसकौ स्वभाव रस भरै है।
कहै 'दीपचंद' यौ जिनेन्द्र कौ बखान्यौ बैन, परिणाम सकति कौं भव्य अनुसरै है॥71॥

काहू परकार काहू काल काहू खेतरमैं, ह्वै है न विनाश अविनाशी ही रहतु है।
परमप्रभाव जाकौ काहूपै न मेट्यौ जाय, चेतना विलास के प्रकासकौं गहतु है॥
आन अवभाव जामैं आवत न कोऊ जहाँ, अतुल अखंड एक सुरस भरते है।
असंकुचित विकास सकति बनी है ऐसी, कहै 'दीप' ज्ञाता लखि सुखकौं लहतु है॥72॥

1. स्पर्श=अनुभव द्वारा। 2. सकति, सरवगी=सर्वज्ञशक्ति। [क्रमशः]

सम्यग्दृष्टि के आठ अंगों का वर्णन

चैतन्यतत्त्व जिसमें उल्लसित है, ऐसे सम्यक्त्व की अद्भुत महिमा

अहा, चैतन्य में अनंत स्वभाव विद्यमान हैं, जिसकी महिमा अद्भुत है। उसके सन्मुख होकर रागरहित निर्विकल्प प्रतीति करने से अतीन्द्रिय आनंद के वेदन सहित सम्यग्दर्शन होता है; जिसमें अनंत गुणों के निर्मल भावों का समावेश है, वह मोक्षमार्ग है। ऐसे सम्यक्त्व के साथ धर्मी जीव को नि:शंकादिक आठ गुण कैसे होते हैं, उसका आनंदकारी वर्णन आप इस लेख में पढ़ेंगे। यह वर्णन छहढाला पर दिये गये स्वामीजी के प्रवचन का भाग है।

卐 1. नि:शंकता-अंग का वर्णन 卐

सर्वज्ञदेव ने जैसा कहा, वैसे ही जीवादि तत्त्व हैं, उनमें धर्मी को शंका नहीं होती। उसने सर्वज्ञ का स्वरूप निर्णय तो किया है, अत: पहचान सहित नि:शंकता की यह बात है; पहचाने बिना मान लेने की यह बात नहीं है। जीव क्या है, अजीव क्या है इत्यादि तत्त्व का अरिहंतदेव के कहे अनुसार स्वयं समझकर उनकी नि:शंक श्रद्धा करना चाहिये; और कोई सूक्ष्म तत्त्व समझने में न आवे, तब विशेष जानने की जिज्ञासा से संदेहरूप प्रश्न हो—तो इससे कहीं जिनवचन में संदेह नहीं हो जाता। सर्वज्ञकथित जैनशास्त्रों में जो कहा है, वह सच्चा होगा कि आधुनिक विज्ञानवाले लोग कहते हैं, वह सच्चा होगा?—ऐसा संदेह धर्मी को नहीं रहता। अहा, सर्वज्ञस्वभाव जिसकी प्रतीत में आया, परम अतीन्द्रिय वस्तु जिसकी प्रतीत में आयी, उससे सर्वज्ञ कथित छह द्रव्य, उत्पाद-व्यय-ध्रुव, द्रव्य-गुण-पर्याय इत्यादि तत्त्वों (-अपने को वे प्रत्यक्ष न होते हुए भी) उनमें शंका नहीं रहती। निश्चय से अपने ज्ञानस्वभावरूप आत्मा में परम नि:शंकता है, और व्यवहार में देव-गुरु-धर्म में नि:शंकता है। क्या जैनधर्म एक ही

सच्चा होगा ? कि जगत में जो दूसरे धर्म कहलाते हैं, वे भी सच्चे होंगे ?—ऐसी शंका जिसे है, उसे तो स्थूल मिथ्यात्व है, व्यवहारधर्म की नि:शंकता भी उसके नहीं है। वीतरागी जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग की मान्यता धर्मी के कभी नहीं होती।

जैसे बालक अपनी माता गोद में नि:शंक है कि यह मेरी माँ मेरा भला ही करेगी; उसको कोई संदेह नहीं होता कि—कोई मुझे मारेगा तो मेरी माँ मुझे बचायेगी कि नहीं ? उसीप्रकार जिनवाणी माता की गोद में धर्मी नि:शंक है कि जिनवाणी-माँ मुझे सत्यस्वरूप दिखाकर मेरा हित करनेवाली है, संसार से वह मेरी रक्षा करेगी। जिनवाणी में उसे संदेह नहीं रहता। परमेश्वर-वीतरागी-सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा-जिन्होंने अपने केवलज्ञान में वीतरागभाव से सारे विश्व को देखा है—ऐसे परमात्मा को पहचानकर उनमें नि:शंक होना, और उनके कहे हुए मार्ग में तथा तत्त्वों में नि:शंक होना—यह नि:शंकता गुण है।

श्री समंतभद्रस्वामी ने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में सम्यक्त्व के इन आठ अंगों के पालन में प्रसिद्ध आठ जीवों का उदाहरण दिया है; उनमें नि:शंकित अंग में अंजन चोर का दृष्टांत दिया है। (इन आठ अंग की आठ कथाएँ आप 'सम्यक्त्व कथा' नामक पुस्तक में, अथवा 'सम्यग्दर्शन'-गुजराती चौथी पुस्तक में पढ़ सकेंगे।) समझाने के लिये प्रत्येक अंग का अलग-अलग दृष्टांत दिया है; वैसे तो सम्यग्दृष्टि जीवों को एकसाथ आठों अंगों का पालन होता है, उनमें से प्रसंग अनुसार किसी अंग को मुख्य कहा जाता है।

卐 2. नि:कांक्षा-अंग का वर्णन 卐

धर्मी जीव धर्म के फल में भवसुख की वांछा नहीं करते; अत: पुण्य को या पुण्य के फल को वे नहीं चाहते; धर्म से मुझे स्वर्गादि का सुख मिलेगा, ऐसी वांछा, सो भवसुख की वांछा है, ऐसी वांछा अज्ञानी के होती है। ज्ञानी ने तो अपने आत्मिकसुख का अनुभव किया है। अत: अन्यत्र कहीं पर भी उसे सुखबुद्धि नहीं है, इसलिये वह निष्कांक्ष है। सम्यग्दृष्टि ने निष्कांक्षगुण के द्वारा भवसुख की वांछा नष्ट कर दी है। 'भवसुख' यह अज्ञानी की भाषा में कहा है; वास्तव में भव में सुख है ही नहीं किंतु अज्ञानी लोग देवादि के भव में सुख मानते हैं, इंद्रिय विषयों में सुख मानते हैं,—आत्मा के सुख को तो वे पहचानते ही नहीं। अरे, सम्यग्दृष्टि तो आत्मा के सुख का स्वाद लेनेवाला, मोक्ष का साधक है ! वह संसार-भोगों की इच्छा क्यों करे ?

जिसके वेदन से जीव अनादिकाल से दु:खी हुआ, उसको ज्ञानी कैसे करे ? भव-तन-भोग यह तो ज्ञानी को अनादिकाल की उचिष्ट के समान दिखते हैं; जीव अनंत बार उन्हें भोग चुका परंतु सुख की एक बूँद भी उसे न मिली।

धर्म का प्रयोजन क्या है ?—धर्म का प्रयोजन, धर्म का फल तो आत्मसुख की प्राप्ति है; धर्म का फल कहीं बाह्य से नहीं आता। जिसने आत्मसुख का स्वाद नहीं चखा, उसके अंतर में संसार-भोग की चाहना रहा करती है, तथा उसके कारणरूप पुण्य की व शुभराग की भी रुचि उसे रहती है, अत: उसे सच्चा निष्कांक्षक नहीं होता। भले ही वह राजपाट घर-परिवार इत्यादि को छोड़कर त्यागी हुआ हो परंतु जब तक राग से भिन्न चैतन्यरस का स्वाद नहीं लिया (अनुभव नहीं किया), तब तक उसे संसार-भोग की वाँछा विद्यमान रहती है। सम्यग्दृष्टि जीव राजपाट-घर-परिवार इत्यादि संयोग में रहा हो, उसके संबंधी राग भी हो, (-वास्तव में तो वह अपनी चेतना में ही तन्मय रहता है) परंतु अंतर में उन सबसे पार अपने चैतन्यरस का आनंद चाख लिया है। अत: उसको उनमें कहीं स्वप्न में भी सुखबुद्धि नहीं है; अत: राग होने पर भी श्रद्धा के बल से उसे निष्कांक्षता ही है। यह धर्मी की कोई अलौकिक दशा है—जिसे अज्ञानी नहीं पहचान सकते। और उसे जो पहचाने उसे अज्ञान नहीं रहता।

लोग कहते हैं कि हम धर्म करेंगे, जिससे हमें धन मिलेगा और हम सुखी होंगे—किंतु ऐसी मान्यतावाले को न धर्म की पहचान है, न सुख की। वे तो शुभराग को-पुण्य को धर्म समझ रहे हैं और उसके फल में धन वगैरह मिले, उसमें सुख मानते हैं; उससे भिन्न आत्मा के अस्तित्व की तो उन्हें पहिचान ही नहीं है। अरे भाई! धर्म के फल में कहीं बाहरी भव नहीं मिलता; और धनादिक का मिलना, वह तो कहीं धर्म का प्रयोजन नहीं है। धन के लिये धर्म नहीं किया जाता। धर्म का प्रयोजन तो आत्मिक सुख है; और उस सुख में धनादि की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह संयोगरहित स्वाभाविक सुख आत्मा में से ही उत्पन्न होता है। ऐसे सुख को जानकर जिसने अनुभव किया, उसको संसार में अन्य किसी की भी वांछा नहीं रहती।-कहीं भी सुख कल्पना नहीं रहती।

धर्मात्मा को धर्मी की साथ के राग के कारण से पुण्य बंध जाये और उस पुण्य के फल में बाहर का वैभव मिले, परंतु धर्मी को उसकी वाँछा नहीं है, वह अपने आत्मा को उससे अत्यंत भिन्न जानता है। धर्म के फल में मुझे पुत्र मिलेगा, धन मिलेगा—ऐसी वाँछा धर्मी के

नहीं होती। धर्मी जीव देव-गुरु के आश्रय से लौकिक हेतु की आशा नहीं रखते। व्यापार-लग्न-वास्तु इष्ट्यादि प्रसंग में शुभराग से भगवान को याद करे, उसमें भवसुख की वांछा का अभिप्राय धर्मी को नहीं है। जो सर्वज्ञ का भक्त हुआ, उसे संसार की वांछा नहीं रह सकती। राग का एक कण भी मेरे ज्ञान में नहीं है, ऐसा जाननेवाला ज्ञानी राग के फल की कैसे इच्छा करे? धर्म के सेवन में उसे मोक्षरूप परमसुख के सिवा अन्य किसी की भी आशा नहीं है। धर्म का फल तो वीतरागीसुख है। बाह्य वैभव या इंद्रादि पद वह कोई धर्म का फल नहीं है, वह तो राग का-विकार का फल है। अज्ञानी उस पुण्यरूप धर्म को चाहता है। अतः वह भोग हेतु धर्म का सेवन करता है—ऐसा समयसार में कहा है; रागरहित शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप मोक्षहेतु जो धर्म है, उसे वह नहीं जानता।

अंतर के अनुभव में अपने चैतन्यपरमदेव का अनुभव करनेवाले धर्मात्मा जानते हैं कि मेरा चैतन्यचमत्कार आत्मा ही मुझे परम सुख देनेवाला है, इसके सिवा मैं अन्य किसकी वाँछा करूँ? अरे! स्वर्ग का देव आवे तो भी उसके पास से मुझे क्या लेना? स्वर्ग के देव के आगमन की बात सुनकर अज्ञानी को तो चमत्कार लगता है और उसकी महिमा में धर्म की महिमा को भूल जाता है, क्योंकि स्वयं उसके मन में स्वर्गादि के भोग की वांछा है। अरे, मूर्ख लोग तो सर्प-बन्दर-गाय इत्यादि तिर्यंच प्राणिओं को भी देव-देवी मानकर पूजते हैं। अपने को जैन कहलानेवाले भी अनेक जैन लोग भी भोग की वाँछा से, पुत्रादि की वाँछा से या रोग मिटाने की वाँछा से अनेक देव-देवियों की पूजा-मानता करते हैं;—क्या मूरख को कहीं विवेक होता है? अरिहंत भगवान का सच्चा भक्त प्राण चले जाने पर भी मिथ्या देव-देवी को पूजे नहीं, माने नहीं। वीतराग धर्म के सेवन के फल में धन मिलने की वाँछा धर्मी नहीं रखते। इसप्रकार धर्मात्मा निष्कांक्ष भाव से धर्म का सेवन करते हैं।

प्रश्न—व्यापारादि में धन मिले, ऐसी वाँछा तो धर्मी के भी रहती है, तब फिर उसे निष्कांक्षपना कैसे रहा?

उत्तर—उसे अभी उसप्रकार का अशुभराग है; परंतु उस राग से या धन से मुझे सुख मिलेगा—ऐसी मिथ्याबुद्धिरूप वाँछा उसे नहीं है। राग और संयोग दोनों से पार मेरी चेतना है, उसमें ही मेरा सुख है, ऐसा जाननेवाला धर्मात्मा उस धर्मचेतना के फल में बाह्य सामग्री की कभी इच्छा नहीं करता, इसलिये वह निष्कांक्ष है। वह धर्मात्मा कदाचित् इंद्रपद या

चक्रवर्तीपद के वैभव का उपभोग करता दिखे, किंतु उसके ज्ञान में विषय-भोगों का रंचमात्र आदर नहीं है। अरे, हम तो अतीन्द्रिय आनंद के पिंड हैं, आत्मा के अतिरिक्त जगत में कहीं भी हमारा आनंद है ही नहीं; इसलिये कहा है कि—

चक्रवर्ती की संपदा इंद्रसरीखे भोग।
काक वीठ सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग॥

(यह दोहा इंदौर में श्री हुकमचंदजी सेठ के जिनमंदिर में है।)

विषयों के विकल्पों को धर्मी जीव दु:ख एवं जेल के समान गिनते हैं, उसमें सुखबुद्धि नहीं। अत: उसकी वांछा नहीं। उत्तम वस्तु खाते-पीते हो, अच्छे वस्त्र पहिनते हो, स्त्री-पुत्रादि के बीच बैठे हो—तो क्या धर्मी उसमें सुख मानते होंगे? नहीं, जरा भी नहीं। आनंद स्वरूप मेरा आत्मा ही है, पर में सुख जरा भी नहीं है—ऐसी नि:शंक प्रतीतवाला धर्मात्मा देवलोक के सुख की भी इच्छा नहीं करते।—उसमें सुख है ही नहीं, फिर उसकी वाँछा कैसी? चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद के पास स्वर्ग के वैभव का भी कोई मूल्य नहीं। इंद्र के वैभव में उस सुख की गंध भी नहीं है। हाँ, सम्यग्दृष्टि-इंद्र को आत्मा का सुख होता है—यह बात दूसरी है, किंतु बाह्य वैभव में तो उसकी गंध भी नहीं है, और इंद्र स्वयं उसमें सुख नहीं मानता।

अज्ञानी बाह्य में भले ही विषयों का त्यागी हो परंतु अभिप्राय में उसकी विषयों की वाँछा है, क्योंकि राग में सुखबुद्धि है। चैतन्य का इंद्रियातीत सुख जिसने नहीं देखा, उसको राग में और विषयों में सुखबुद्धि का अभिप्राय रहता ही है। यदि उनमें मिठास न लगती हो तो परिणति उससे हटकर अपने चैतन्यसुख में क्यों नहीं आ जाते?—उसने चैतन्यसुख को देखा नहीं, और इंद्रियविषयों में सुख माना; इसलिये उसकी वांछा नहीं मिटी; कदाचित् विषयों की अभिलाषा न दिखती हो परंतु अंतर के अभिप्राय में तो विषयों की आकांक्षा विद्यमान ही है।

सम्यग्दृष्टि तो सिद्ध का पुत्र हो गया, वह तो अखंड एक ज्ञायकस्वभाव की अनुभूति करके जितेन्द्रिय हो गया। आत्मा को छोड़कर जगत में कहीं भी उसे सुखबुद्धि नहीं है। पाँच इंद्रियसंबंधी राग की वृत्ति आती है तो क्या वे उसमें सुख मानते होंगे—ऐसा जरा भी नहीं है। अंतर के आत्मिक आनंद की ही भावना है। अहा, धर्मात्मा की चेतना के खेल तो धर्मी ही जानते हैं। अज्ञानी बाह्यनेत्र के द्वारा धर्मी का सच्चा माप नहीं निकाल सकते। धर्मी का अंतर-हृदय बाहर से नहीं देखा जाता। धर्मी जानते हैं कि मेरा धर्म मेरे में है, उसका फल बाहर से नहीं

आता। बाहर के जो पुण्यफल है, वह तो चावल के ऊपर के छिलके समान हैं, अज्ञानी लोग उसे ही देखते हैं, अंदर के सच्चे वीतरागी कस को वे नहीं देखते। धर्म के बदले में लौकिक फल को धर्मी नहीं चाहते; दुनिया को दिखाने के लिये वे धर्म नहीं करते। धर्मी का धर्म तो उसके आत्मा में ही समाता है और उसका फल भी आत्मा में ही आता है।

कोई देव सेवा करने को आवे तो धर्मी उससे मोहित नहीं हो जाता, और कोई देव आकर त्रास दे तो उससे डरकर धर्मी अपने धर्म को नहीं छोड़ता। ऐसे कोई देव-देवी को धर्मबुद्धि से वह नहीं मानता। मैं धर्म करता हूँ तो स्वर्ग का कोई देव प्रसन्न होकर मुझे धनादि का लाभ देगा—ऐसी बुद्धि धर्मी के नहीं होती। सर्वज्ञ वीतराग अरिहंत देव को छोड़कर अन्य कुदेव को वह अपना सिर कभी नहीं झुकाता। मैं वीतरागता का साधक हूँ, अतः वीतराग को छोड़कर अन्य किसी को मैं देव मानूँ नहीं। चैतन्य के वीतराग स्वभाव से अतिरिक्त पुण्य की भी जहाँ वाँछा नहीं, वहाँ बाहर के पाप-भोगों की बात कैसी? देखो तो सही, इतनी बात तो सम्यग्दर्शन के साथ के व्यवहार में आ जाती है। सम्यग्दर्शन की निश्चय अनुभूति का तो कहना ही क्या?

अरे, दुनिया के लोग तो बाहर के तुच्छ चमत्कार में मोहित हो जाते हैं; परंतु ऐसा (हाथ में से कुमकुम निकालना इत्यादि) चमत्कार तो सामान्य अभव्य देव भी दिखा सकता है। उसमें आत्मा का कौन-सा हित है? धर्मी तो जानते हैं कि सर्वज्ञता और वीतरागता, वही मेरे भगवान का सच्चा चमत्कार है; इसके सिवाय बाहर के कोई चमत्कार के हेतु वे भगवान को नहीं मानते। बाह्य संयोगों का आना-जाना तो पुण्य-पाप के अनुसार हुआ करता है, धर्म के साथ उनका संबंध नहीं है। धर्मी जीव धर्म के फल में बाहर की आकांक्षा नहीं करते। जहाँ राग से भिन्न आत्मिक आनंद का स्वाद अपने में आया, तब फिर भवसुख की वाँछा कैसे रहे? 'भवसुख' वास्तव में सुख नहीं किंतु दुःख ही है। भव कहने से उसमें संसार की चारों गति आ गई, स्वर्ग भी उसमें आ गया। अतः देवगति के सुख को भी धर्मी नहीं चाहता। सम्यग्दृष्टि का ऐसा निष्कांक्ष अंग है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के आठ गुण में से यह दूसरा गुण कहा। इस निःकांक्षा अंग के पालन में सती अनन्तमती का उदाहरण प्रसिद्ध है—जो आप 'सम्यक्त्वकथा' में पढ़ सकेंगे।

卐 3. निर्विचिकित्सा-अंग का वर्णन 卐

जिसने आत्मा और शरीर को भिन्न जान लिया है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, देहादि में अशुचि देखकर आत्मधर्म के प्रति ग्लानि नहीं करता; किसी मुनि वगैरह धर्मात्मा का शरीर मलिन अथवा रोगवाला देखकर उसके प्रति उसे घृणा-दुर्गंछा नहीं होती, परंतु शरीर मलिन होने पर भी अंतर में आत्मा तो पवित्र चैतन्यधर्मों से शोभित हो रहा है—उसका उसे बहुमान आता है। 'ऐसे मलिन-कोढ़ी शरीरवाले को तो कैसे धर्म होगा!' ऐसी दुर्गंछा का भाव उसे नहीं आता।—यह सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अंग है।

सर्वज्ञ के देह में तो अशुचि होती ही नहीं, उनको रोगादि भी नहीं होते। साधक-धर्मात्मा-मुनि वगैरह के देह में मलिनता रोगादि हो, कभी कोढ़ भी हो जाये, शरीर सड़ जाये, तो उसे देखकर धर्मी विचार करते हैं कि अहो, यह आत्मा तो अंतर में सम्यग्दर्शनादि अपूर्व रत्नों से अलंकृत है, देह के प्रति उसे कोई ममत्वबुद्धि नहीं है, रोगादि तो देह में होते हैं और देह तो स्वभाव से ही अशुचिरूप है; इसप्रकार देह और आत्मा के भिन्न-भिन्न धर्मों का विचार करके धर्मी जीव, देह की मलिनता को देख करके भी धर्मात्मा के गुणों के प्रति ग्लानि नहीं करते। शरीर में भी रागादि मलिनता हो जाये तो उससे वे अपने धर्मों से नहीं डिगते, और उसमें शंका भी नहीं करते। मुनि तो देह के प्रति अत्यंत उदासीन होते हैं, वे स्नानादि भी नहीं करते, देह की शोभा का उन्हें लक्ष नहीं है, वे तो स्वानुभूतिरूपी स्नान के द्वारा आत्मा को निर्मल करनेवाले हैं, रत्नत्रय ही उनका शृंगार है। अहो! ऐसे मुनिराज को देखकर रत्नत्रयधर्म के बहुमान से उनके चरणों में सिर झुक जाता है।

अरे, देह तो स्वभाव से ही अशुचि का धाम और क्षणभंगुर है; और धर्मात्मा तो रत्नत्रय से सहज पवित्र हैं। शरीर में सुगंध हो कि दुर्गंध-यह तो जड़ का धर्म है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि धर्मी का शरीर कुरूप न हो; किसी का शरीर कुरूप भी हो, आवाज भी स्पष्ट न निकलती हो—लेकिन इससे क्या? अंतर में तो धर्मात्मा अपने को देह से भिन्न अशरीरी ज्ञानमय अनुभव करते हैं। रत्नकरंड श्रावकाचार में समंतभद्र महाराज कहते हैं कि—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नम् अपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥28॥

चांडाल के देह में रहा हुआ भी सम्यग्दृष्टि आत्मा देव समान शोभता है, भस्म से ढँके हुए अग्नि के अंगार की तरह देवरूपी भस्म के अंदर सम्यक्त्वरूप औजस से वह आत्मा शोभता है, वह प्रशंसनीय है। इसप्रकार आत्मा के सम्यक्तव को पहचाननेवाले जीव शरीरादिक की अशुचि को देख करके भी धर्मात्मा के प्रति घृणा-तिरस्कार नहीं करते, किंतु उनके पवित्र गुणों के प्रति प्रेम व आदर करते हैं; ऐसा निर्विचिकित्सा अंग है। (यह निर्विचिकित्सा अंग के लिये उदायन राजा का दृष्टांत शास्त्रों में प्रसिद्ध है; वह 'सम्यक्त्वकथा' आदि में आप पढ़ सकते हैं।)

किसी धर्मात्मा के पुण्य अल्प हो—उससे क्या? पुण्य तो उदयभाव का फल है, उससे आत्मा की शोभा नहीं; आत्मा तो सम्यक्त्वादि से ही शोभता है। धर्म में तो गुण से ही शोभा है, पुण्य से नहीं। कुत्ता जैसा एक तिर्यंच भी यदि सम्यक्त्वसहित हो तो शोभा पाता है, जबकि मिथ्यादृष्टि बड़ा देव हो तो भी शोभा नहीं पाता। अल्प पुण्योदय के कारण से कोई धर्मात्मा निर्धन हो, कुरूप भी हो और आप स्वयं धनवान-रूपवान हो तो इसकारण से धर्मी दूसरे साधर्मी से अपनी अधिकता नहीं मानता ओर दूसरे का तिरस्कार नहीं करता; परंतु उसके गुण की प्रीतिपूर्वक उसका आदर करता है कि वाह! देहादि की इतनी प्रतिकूलता होने पर भी यह धर्मात्मा अपने धर्म को अच्छी तरह साध रहा है, उसको धन्य है। पुण्य के तो अनेक प्रकार हैं, उसमें हीनाधिकता हो—उससे क्या? अंतर का धर्म तो पुण्य से अलग है। इसप्रकार देह और आत्मा के धर्मों की भिन्नता जानने से देहादि की हीनता देखकर के भी धर्मात्मा के गुणों के प्रति अनादर का भाव नहीं होता। किंतु गुण के प्रति प्रेम आता है।—ऐसा सम्यक्त्व का तीसरा अंग है।

सिद्धों का सन्देश

जिसको सच्ची श्रद्धा प्रगटे उसका सारा अंतर ही पलट जाता है, हृदय पलट जाता है, अंतर में उथल-पुथल हो जाती है, अंधे से नेत्रवान हो जाता है! अंतर की ज्योति जागे, उसकी दशा की दिशा ही पलट जाती है, उसे किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता, उसका अंतर बेधड़क साक्षी देता है कि हम प्रभु के मार्ग में मिल गये हैं, सिद्धों के संदेश आ चुके हैं, अब अल्पकाल में सिद्ध होकर ही रहेंगे; उसमें अन्य कुछ नहीं हो सकता; कुछ भी फर्क नहीं पड़ सकता।

विविध समाचार

सोनगढ़—विशाल परमागम मंदिर का निर्माण कार्य सुचारुरूप से चल रहा है। इस कार्य की व्यवस्था तथा निरीक्षण जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के वयोवृद्ध भूतपूर्व अध्यक्ष माननीय श्री रामजीभाई कर रहे हैं। परमागम मंदिर की दीवारों पर जिन शास्त्रों की गाथाएँ, उत्कीर्ण होनी थी, उसका कार्य तारीख 22-4-73 (रविवार) को समाप्त हुआ। उसका बड़ा महोत्सव मनाया गया। इस प्रसंग पर बाहर से अधिक संख्या में मुमुक्षुगण पधारे थे। प्रात:काल रथयात्रा निकाली गई तथा दोनों समय सजाये हुये परमागम मंदिर में ही प्रवचन हुए। सभी व्यक्तियों ने कार्य की सराहना की। पूज्य श्री कानजीस्वामी जैसे आध्यात्मिक संत की छत्रछाया में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की अनुभववाणी भारतवर्ष में प्रथमबार उत्कीर्ण हुई। यह वास्तव में मुमुक्षुओं का महान सद्भाग्य है। परमागम मंदिर में 57 वैराग्यपूर्ण चित्र संगमरमर पर तैयार कराकर लगाये जायेंगे, मुमुक्षुओं में बहुत ही उत्साह एवं उमंग का वातावरण था। जिनवाणी उत्कीर्ण करने के कार्य में श्री पोपटभाई मोहनलाल वोरा एवं श्री पंडित हिम्मतभाई जे. शाह आदि जिन-जिन महानुभावों ने जो अपना बहुमूल्य समय दिया, उसकी सबने सराहना की।

तारीख 23-4-73 के प्रात:काल स्वामीजी का मंगल विहार हुआ।—कार्यक्रम निम्नानुसार है।

तारीख 23 अप्रैल प्रात: काल सोनगढ़ से भावनगर होकर बम्बई पधारेंगे, वहाँ पर स्वामीजी पूरे दिन विराजमान रहेंगे।

तारीख 24 अप्रैल मंगलवार प्रात:काल स्वामीजी बम्बई से दिल्ली पधारेंगे एवं स्वामीजी 4 दिन तक विराजमान रहेंगे। (तारीख 24 से 26 तक)

तारीख 28 शनिवार को दिल्ली से कलकत्ता पधारेंगे तथा 4 मई तक रहेंगे वहाँ तारीख 4-5-73 को आध्यात्मिक संत पूज्य श्री कानजीस्वामी का 84 वीं जन्म-जयन्ती (वैशाख सुदी दोज को) मनायी जायेगी। अत: समस्त धर्मस्नेह भाई-बहिनों से निवेदन है कि 84 वीं जन्म-जयन्ती पर पधारकर चौरासी के चक्कर का विनाश करनेवाली पूज्य गुरुदेव की अमृत भरी वाणी का लाभ लेवें।

परम पूज्य सत् पुरुष श्री कानजीस्वामी अध्यात्म-गंगा बहाने हेतु आसाम की राजधानी गौहाटी नगरी में दिनांक 5, 6, और 7 मई 1973 को पधारेंगे। इस अंचल में स्वामीजी का प्रथम विहार है।

पूज्य स्वामीजी गौहाटी से तारीख 8 (मंगलवार) के दिन प्रस्थान करके कलकत्ता होते हुए बम्बई पधारेंगे और वहाँ रविवार तारीख 15 मई तक (शायद दो दिन ज्यादा) विराजमान रहेंगे। तथा तारीख 14 मई सोमवार के दिन भावनगर होते हुए सुवर्णपुरी में स्वामीजी प्रवेश करेंगे—ऐसा कार्यक्रम है।

सभी साधर्मी भाईयों से विनम्र निवेदन है कि पूज्य स्वामीजी की अध्यात्मरस से ओतप्रोत वाणी का अवश्य लाभ लेवें तथा जैनधर्म की प्रभावना में वृद्धि करें।

❀ सौराष्ट्र में पिछले वर्ष वर्षा की कमी के कारण यद्यपि अकाल की परिस्थिति है; परंतु यहाँ सोनगढ़ में पानी का जरा भी कष्ट नहीं है। जैन अतिथि सेवा-समिति की भोजनशाला में योग्य चार्ज लेकर शुद्ध सात्विक भोजन दिया जाता है; ठहरने आदि की अच्छी सुविधा है। किंतु देश-काल की परिस्थिति को देखते हुए इस वर्ष सोनगढ़ में ग्रीष्मकालीन शिक्षण-शिविर बन्द रखने का निर्णय किया गया है।

❀ ❀ ❀

गोरमी (भिंड, म.प्र.)—समाज के विशेष अनुरोध पर श्री ब्रह्मचारी पंडित हेमराजजी पधारे। 28-3-73 के दिन ब्रह्मचारी पंडितजी की अध्यक्षता में एक मुमुक्षु मंडल की स्थापना की गई तथा धार्मिक एवं स्वाध्याय आदि के कार्यक्रम प्रारंभ किये गये। ज्ञान प्रचार हेतु राशि एकत्र की गई। प्रतिदिन दो बार प्रवचन तथा शिक्षण कक्षाएँ चलती थीं। शिक्षण कक्षाओं में जैन सिद्धांत प्रवेशिका तथा वीतराग विज्ञान पाठमाला चलती थी। समस्त समाज ने अच्छी तरह धर्म लाभ लिया, एवं स्वामीजी का उपकार माना।

❀ ❀ ❀

करेली (म.प्र.)—जैन शिक्षण-शिविर तारीख 9-3-73 से 18-3-73 तक सुव्यवस्थितरूप से संपन्न हुआ। जिसका उद्घाटन श्री पंडित धन्नालालजी ने किया। यहाँ पर मुमुक्षु मंडल, महिला मंडल, एवं वीतराग विज्ञान पाठशाला चालू है। सभी ने उत्साहपूर्वक

शिविर में भाग लिया। यहाँ के नवयुवकों में विशेष धार्मिक रुचि देखने में आती थी। यहाँ की समाज ने श्री पंडित धन्नालालजी एवं श्री अभयकुमारजी के प्रवचनों का लाभ लिया। सभी ने स्वामीजी का अत्यंत भक्तिभाव से आभार माना एवं एक स्वाध्याय मंदिर बनाने का निर्णय किया जो श्री महावीर निर्वाण जयंती के 2500 वें निर्वाण महोत्सव की स्मृति में बनाया जायेगा। — पन्नालाल जैन

फालेगाँव (देशमूख)—यहाँ पर तारीख 9-4-73 से 19-4-73 तक बड़े सुंदर एवं उत्साहपूर्वक जैनधर्म शिक्षण-शिविर सानंद संपन्न हुआ। छोटा गाँव होने पर भी फालेगाँव की समस्त समाज ने उत्तम व्यवस्था रखी थी। विद्वानों में श्री मधुकरजी, श्री पंडित चिमनभाई, श्री रमेशचंद्रजी तथा श्री पंडित दीपचंदजी थे। प्रथम दिन ब्रह्मचारी श्री धन्यकुमारजी पधारे थे। धार्मिक कार्यक्रम में सामूहिक जिनेन्द्र पूजा, शिक्षण कक्षा, प्रवचन स्वाध्याय, टेपरिकार्डिंग तथा दक्षिण यात्रा की फिल्म दिखलायी गयी थी। हिंगोली, बाशीम, मलकापुर आदि अनेक स्थलों से व्यक्ति पधारे थे। यहाँ अकाल की परिस्थिति होने पर भी धर्म-प्रभावना हो रही है। सभी ने स्वामीजी का हृदय से उपकार माना।

❀ ❀ ❀

तीन नहीं... परंतु चार!

— आत्मधर्म के अनेक पुराने पाठकगण दो वर्ष पहले का स्मरण करके आत्मधर्म का चंदा तीन (जी हाँ-तीन) रुपये भेजते हैं—किंतु भाईश्री दो साल से आत्मधर्म का वार्षिक चंदा चार रुपये (तीन नहीं चार) किये गये हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखें और नये वर्ष का चंदा चार रुपये ही भेजें।

— इस अंक के साथ आत्मधर्म का 28वाँ वर्ष समाप्त होता है तथा वैशाख महीने का अंक 25 मई को प्रगट होगा। अत: आप अपना चंदा शीघ्रता से 4.00 भेज दें।

— नये ग्राहकों को आत्मधर्म भेजने का प्रारंभ 25 मई से होगा। कृपया तब तक अंक न मिलने की शिकायत (नये ग्राहक) न लिखें।

विद्यार्थियों को अभ्यास की सुंदर सुविधा
श्री जैन विद्यार्थीगृह-सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सोनगढ़ में एक जैन बोर्डिंग लगभग 21 वर्ष से चल रही है, जिसमें 10 वर्ष से 18 वर्ष तक की उम्र के छात्र जो कि कक्षा 5 से 11 तक का अभ्यास करते हैं, उन्हें प्रवेश दिया जाता है। किसी भी जैन जाति के छात्र को भेदभाव रहित प्रवेश दिया जाता है।

आजकल महँगाई अधिक होने से एवं व्यवस्था आदि खर्च को मिलाकर एक छात्र का मासिक खर्च लगभग रुपये 100.00 होता है, फिर भी एक छात्र की शुल्क (फीस) रुपये 40.00 और जो गरीब छात्र होते हैं, उनके पास से अर्द्धशुल्क भोजन खर्च रुपये 25.00 मासिक लिया जाता है।

इस छात्रालय में रहते हुए विद्यार्थियों को उनके अभ्यास के उपरांत सनातन जैनधर्म का भी अभ्यास दिया जाता है तथा रजा (छुट्टी) के दिन परम पूज्य कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का भी लाभ प्राप्त होता है।

वार्षिक परीक्षा आने के चार माह पहले से छात्रों को सामूहिक ट्यूशन देने के लिये अध्यापक को नियुक्त किया जाता है, जिससे विद्यार्थी को अभ्यास में सुविधा हो।

यहाँ गुरुकुल हाईस्कूल है, जिसमें कक्षा 5 से अंग्रेजी की पढ़ाई चालू की जाती है।

जो व्यक्ति अपने बच्चों की इस छात्रालय में भरती करना चाहते हैं वे 0.25 पैसे की टिकिट भेजकर प्रवेश-पत्र एवं नियमावली अवश्य मँगवा लें तथा उसे भरकर तारीख 20-5-73 तक भेज दें। प्रवेश फार्म के साथ वार्षिक परीक्षा की मार्कशीट अवश्य भेजें।

— ट्रस्टी तथा मंत्री,
श्री जैन विद्यार्थीगृह, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आध्यात्मिक पद

(राग – अब मेरे समकित सावन आयो)

अब मेरे चेतन अनुभव आयो।
पर से ममता छूटण लागी, स्वरस सुखानंद भायो।
अब मेरे चेतन अनुभव आयो।

पर में आपो मान सदा ही, भोगन में लिपटायो।
जड़ की सेवा युग युग कीनी, जीवन व्यर्थ गमायो॥अब०॥

मिथ्या भ्रम तम भागन लाग्यो, ज्ञान प्रकाश सुहायो।
वस्तुस्वरूप समझ में आयो, झूठो ही भरमायो॥अब०॥

ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव तुम्हारो, सतगुरु यों समझायो।
पर में करता बुद्धि हटे अब, स्व में स्व सुख पायो॥अब०॥

जग में सब कुछ क्रम से होता, कौ परिणमन रुकायो।
राग-द्वेष ममता माया में, नाहक ही भरमायो॥अब०॥

ज्ञान उदधि सुख अमृत पूरण, कैसी प्यास सतायो।
स्व की ओर निहार 'भंवर' अब सुख सागर लहरायो॥अब०॥

अब मेरे चेतन अनुभव आयो।

—एक आत्मार्थी गौहाटी

धर्मी का ध्येय

हे जीव! तुझे आत्मा को ध्येय बनाकर आनंद की प्राप्ति करना हो तो क्या करना चाहिये—वह संत तुझे बतलाते हैं।

राग को ध्येय में न लेकर स्वतत्त्व ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप को ध्येय बनाकर उसमें अपना लक्ष कर। अपने स्वतत्त्व के अभ्यास का मार्ग तूने कभी नहीं लिया, अकेला पर का और राग का ही अभ्यास तूने किया है। अब उसकी दिशा बदलकर स्वतत्त्व को ध्येय बनाने की यह बात है।

धर्मी जीव ने अपना ध्येय बदल दिया है; परध्येय छोड़कर ज्ञानानंदमूर्ति निजात्मा को ध्येय बनाया है। ज्ञानचेतना को अंतर्मुख किया है। देखो, धर्मी की ज्ञानचेतना अंतर में आत्मा को चेतने का (अनुभवने का) कार्य करती है। बाह्य ज्ञातृत्व का विकास कम-अधिक होना, वह कहीं ज्ञानचेतना का कार्य नहीं है; ज्ञानचेतना तो अंतर्मुख कार्य करती है; वह आत्मा का लक्ष बनाती है। अंतर्मुख ज्ञानचेतना द्वारा धर्मी ने आत्मानंद का भंडार खोल दिया है और उसी को ध्येय बनाया है। धर्मी की दृष्टि नित्य निजात्मा को ही स्पर्श करती है, राग को स्पर्श नहीं करती। स्पर्श करती है अर्थात् वेदन करती है, अनुभव करती है, एकता करती है। पहले अज्ञानदशा में विकार का ही वेदन करता था, उसी को आत्मारूप मानता था; उसके बदले अब ध्येय को बदल दिया और ज्ञानचेतना द्वारा विकार से पार ऐसे शुद्धात्मा का वेदन किया, उसी को निजस्वरूप जाना, उसी को ध्येय बनाया।

देखो, यह धर्मी का ध्येय!

हे जीव! तुझे आनंद की प्राप्ति करना हो तो तू भी अपने ऐसे आत्मा को ध्येय बना!

चैतन्यतत्त्व ही उपादेय है

निर्विकल्प शांत अनुभूति से आत्मा वेदन में आता है। उस अनुभूति से विपरीत ऐसे जो राग-द्वेष-मोह, उनसे उत्पन्न हुए कर्म और उन कर्मों से निर्मित यह देह—इस देह से पार अतीन्द्रिय आत्मा को जहाँ अनुभूति में लिया, वहाँ पर का संबंध समाप्त ही हो गया, कर्म और राग-द्वेष भी पृथक् हो गये। जहाँ शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं है, वहीं पर राग-द्वेष कर्म और शरीर का संबंध है। परंतु जहाँ अनुभूति द्वारा स्वयं अपने में ही स्थित रहा, वहाँ पर का संबंध भी नहीं रहा, और अशुद्धता भी नहीं रही। इसप्रकार शुद्ध परमात्मतत्त्व की भावना से संसार का नाश हो जाता है।

समभाव में स्थित मुनियों को और धर्मात्माओं को परम आनंद उत्पन्न करनेवाला जो परमतत्त्व अंतर में स्फुरायमान होता है-उसी को तू शुद्धात्मा समझ।—जितना भी व्यवहार है, वह सब शुद्धात्मा के अनुभव से बाहर ही रह जाता है। अहा, परम तत्त्व को जहाँ ध्यान में लिया, वहाँ वह तत्त्व परम अपूर्व आनंदरूप है। अहा, संतों को ऐसा तत्त्व परम प्रिय है। तू उसे उपादेय मानकर ध्यान कर। जगत में आनंददायक अगर कोई हो तो केवल यह परम चैतन्यतत्त्व ही है; इसलिये यही उपादेय है; जो आनंददायक न हो, वह उपादेय किसप्रकार कहला सकता है ? जो उपादेय होता है, वही आनंददायक ही होता है; जो तत्त्व आनंद की प्राप्ति न कराये उसे कौन आदरणीय मानेगा ?

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)